भूमिका

१—प्राचीन भारत में लेखनकला

भारत में अन्य कलाओं और विद्याओं के उद्गम की तरह लेखनकला के उद्गम के विषय में भी दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त मान्य है। प्राचीन भारतीय लिपि ब्राह्मी को ब्रह्मा की कृति स्वीकार किया जाता है। बादामी से ५८०ई० का एक पाषाण-खण्ड प्राप्त हुआ है। उसपर बनी ब्रह्मा की मूर्ति के एक हाथ में कुछ ताल-पत्र हैं। ये तालपत्र लेखनकला का संकेत करते हैं, क्योंकि भारत में सर्वप्रथम लेखनकार्य तालपत्रों पर ही प्रारम्भ हुआ था। विद्या और कलाओं की देवी सरस्वती को भी वीणा-पुस्तक-धारिणी कहा गया है। इससे भी इस मत की पुष्टि होती है।

मैक्समूलर का मत था कि चूंकि पाणिनि की **अष्टाध्यायी** में लेखनकला का कोई संकेत उपलब्ध नहीं है इसलिए ४०० ईसापूर्व से पहले भारत में लेखन के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। बर्नेल के अनुसार ब्राह्मीलिपि फिनी-शियन से विकसित हुई है, इसलिये भारत में लेखनकला का प्रारम्भ चौथी या पांचवीं शताब्दी ईसापूर्व से पहले नहीं हुआ होगा। डा० बुह्लर का विचार है कि ब्राह्मी का विस्तार ५०० ईसापूर्व से पहले ही पूर्ण हो चुका था। इसलिये यह मानना होगा कि सेमेटिक वर्ण ८०० ईसापूर्व तक भारत में अपनाए जा चुके होंगे। नए शिलालेखों के प्रकाश में आने पर इसे १००० ईसापूर्व तक ले जाया जा सकता है।

ये विचार १९वीं शताब्दी या २०वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में व्यक्त किये गए थे। तत्पश्चात् नए लेखों की उपलब्धि, मोहनजोदड़ो आदि की खुदाई से मिली सिन्धुघाटी की लिखाई तथा महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, पं० राजवली पाण्डेय आदि विद्वानों के शोधों से इस क्षेत्र में एक नई क्रान्ति आई है, और भारत में लेखनकला के प्रारम्भ की तिथि और अधिक अतीत की ओर सरक गई है।

भारतीय परम्परा के अतिरिक्त विदेशी अनुश्रुतियों के अनुसार भी भारत में लेखनकला बहुत प्राचीन सिद्ध होती है। चीनी यात्री युवान्-च्वांग (६३०-४५ ई०) ने लिखा है कि भारत में लेखनकला का आविष्कार बहुत प्राचीनकाल में हो चुका था। चीनी विश्वकोश **फा-वान-शु-लिन** के अनुसार प्राचीन विश्व में तीन ही लिपियां प्रचलित थीं। इनमें से एक ब्राह्मी थी। इसके कर्ता फान अर्थात् ब्रह्मा

थे। यह बाएं से दाएं को लिखी जाती थी और सभी लिपियों में श्रेष्ठ थी। महमूद गज़नवी के साथ भारत में आए अरबी यात्री अल्बेरूनी ने अपनी पुस्तक **किताब-उल-हिन्द** 'भारत की खोज' में लिखा है कि हिन्दु एक बार लेखनकला भूल चुके थे। पराशर के पुत्र वेदव्यास ने इसे पुनर्जीवित किया। सिकन्दर के सेनापति नेआरकस (३२६-२५ ईसापूर्व) ने लिखा है कि भारत के निवासी कपास और चीथड़ों से कागज़ बनाना जानते थे। एक अन्य यूनानी लेखक क्विन्टस कर्टियस ने लिखा है कि प्राचीन भारत में वृक्षों की मुलायम छाल लेखन-सामग्री के रूप में प्रयुक्त होती थी। चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में आए यूनानी राजदूत मेगस्थनीज़ (३०५-२६९ ई० पू०) ने अपने ग्रन्थ **इंडिका** में लिखा है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त के राज्य में सड़कों पर दस दस स्तादिया के अन्तर पर विश्राम-गृहों की दूरी दर्शाने वाले पत्थर लगाए गए थे। उसने पञ्चांग बनाने, कुण्डली तय्यार करने और स्मृतियों के आधार पर निर्णय सुनाने का भी उल्लेख किया है।

बौद्ध और जैन साहित्य में भी भारत में लेखनकला के अत्यन्त प्राचीन साक्ष्य उपलब्ध हैं जिनसे ईसापूर्व पांचवीं-छठी शताब्दी बल्कि उससे भी पूर्व लेखन के व्यवसाय, प्रकार, विषय और सामग्री की जानकारी प्राप्त होती है। **सुत्तान्त** और **विनय-पिटक** में बौद्ध भिक्षुओं को अक्खरिका (अक्षरिका) खेल का निषेध किया गया है। यह एक ऐसा खेल था जिसमें एक भिक्षु को दूसरे भिक्षु की पीठ पर या हवा में अंगुली से अक्षर बनाना होता था। दूसरे भिक्षु को वह अक्षर बूझना होता था। **भिक्खुपाचित्तिय** में लेखनकला को भिक्षुओं के लिये निर्दोष और सराहनीय बताया गया है। जातक कथाओं में अनेक व्यक्तिगत और आधिकारिक पत्रों, राजकीय घोषणाओं, ऋणपत्रों (इणणपण्ण) और पत्रकों का उल्लेख है। **महावग्ग** और **जातक** ग्रन्थों में लेखनकला की शिक्षा देने वाली संस्थाओं, पाठ्य सामग्री, लेखन-प्रकार और लेखन-सामग्री का भी उल्लेख है। लेखा, गणना, रूप आदि पाठशालाओं के पाठ्यक्रम के अंग थे। फलक (पट्टी) और वर्णक (लेखनी) का संकेत मिलता है। **ललितविस्तर** में बालक गौतम का लिपिशाला में जाने और स्वर्ण की लेखनी से चन्दन के फलक पर लिखकर वर्ण-परिचय प्राप्त करने का वर्णन है। इससे पता चलता है कि ईसा से ५०० वर्ष पूर्व के लगभग भारत में लेखनकला पर्याप्त विकसित अवस्था में थी, और इससे पूर्व भी इसका लम्बा इतिहास रहा होगा।

जैन ग्रन्थों में दो लिपियों की तालिकाएं मिलती हैं। एक बारह अक्षरों वाली और दूसरी १८ अक्षरों वाली। **भगवती-सुत्त** नमो बम्भिये लिविए(= **नमो ब्राह्म्यै लिप्यै**) ब्राह्मी लिपि की इस वन्दना से प्रारम्भ होता है। इससे भी भारतीय लेखनकला की प्राचीनता पर प्रकाश पड़ता है।

प्राचीन ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी भारतीय लेखनकला के अत्यन्त प्राचीन होने

के अनेक साक्ष्य उपलब्ध हैं। यह ब्राह्मण-साहित्य प्राचीन बौद्ध-साहित्य का सम-कालीन या इससे भी बहुत प्राचीन है। **वासिष्ठ-धर्मसूत्र** में, जो कि मनु-संहिता से प्राचीन माना जाता है, लिखित पत्रक को वैध प्रमाण माना गया है (**वा० ध०** १६।१०।१४-१५)। **कौटलीय अर्थशास्त्र** चौथी शताब्दी ईसापूर्व के अन्तिम चरण का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें इस प्रकार के अनेक उल्लेख हैं, जिनसे यह पता चलता है कि लेखनकला उस काल में अत्यन्त समृद्ध अवस्था को प्राप्त हो चुकी थी। एक स्थान पर लिखा है कि **चौलकर्म** के पश्चात् शिशु लिखाई और गिनती सीखे (**वृत्तचौलकर्मा लिपिं संख्यानं चोपयुञ्जीत**—१।५।२)। एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि राजा लोग अपने गुप्तचरों को संकेतों और लेखों के साथ भेजें (**संज्ञालिपिभिश्चारसञ्चारं कुर्युः** १।१२।८)। लेखक को तेजी से लिखने वाला, सुन्दर अक्षरों वाला तथा लेख को पढ़ने में समर्थ होना चाहिये (...**आशुग्रन्थश्चार्वक्षरो लेखवाचनसमर्थो लेखकः स्यात्** २।६।२८)। **अष्टाध्यायी** में लेखनकला सम्बन्धी लिपि, लिपिकर, ग्रन्थ, यवनानी आदि शब्दों का उल्लेख है। वार्तिककार कात्यायन ने अपने वार्तिक **यवनाल् लिप्याम्** में यह स्पष्ट कर दिया है कि यवनानी शब्द का प्रयोग 'यवनों की लिपि' अर्थ में हुआ है, जो सम्भवतः उस समय उत्तर-पश्चिमी भारत में प्रचलित थी। पशुओं के कानों को ५, ८ तथा स्वस्तिक आदि धार्मिक चिह्नों से अंकित करने का उल्लेख भी **अष्टाध्यायी** में है (६।३।११५)। पाणिनि और यास्क ने अपने ग्रन्थों में जिन बहुसंख्य वैय्याकरणों के मतों को उद्धृत किया है, उनसे पता चलता है कि उन्हें उन वैय्याकरणों के ग्रन्थ लिखित रूप में प्राप्त हुए होंगे। वाल्मीकीय **रामायण** में हनुमान् अशोकवाटिका में सीता को राम के नाम से अंकित अंगूठी देता है (**रामनामाङ्कितं चेदं पश्य देव्यङ्गुलीयकम्**—५।३६।२)। इसी प्रकार सीता रावण को कहती है कि राम और लक्ष्मण के नामों से अंकित वाण लंका में बरसेंगे (**इषवो निपतिष्यन्ति रामलक्ष्मणलक्षिताः**—५।२१।२५)। इससे रामायण-काल में लेखन-कला का प्रमाण मिलता है। **महाभारत** में भी लिख, लेखक, लेखन आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। आदि-पर्व में उल्लेख है कि भगवान् वेदव्यास की प्रार्थना पर **महाभारत** को लिखने के लिये गणेश ने लेखक बनना स्वीकार किया था (**ओमित्युक्त्वा गणेशोऽपि बभूव किल लेखकः**—१।१।७९)। **महाभारत** की जितनी पाण्डुलिपियां उपलब्ध हैं उनमें अधिक पाठभेद नहीं हैं। पाठभेद की यह स्वल्पता इसके आदि काल से लिखित रूप में होने के कारण ही है। अन्यथा इतने बड़े ग्रन्थ के श्रवण-परम्परा से हमारे तक पहुंचने में इसमें बहुत अधिक पाठभेद हो गए होते। ब्राह्मण, आरण्यक तथा **बृहदारण्यक** और **छान्दोग्योपनिषद्** जैसे उपनिषद् ग्रन्थ गद्य में हैं। इतना विशाल गद्य साहित्य बिना लिखे ही श्रवण-परम्परा से पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहा ऐसा विश्वास करना कठिन है।

शतपथब्राह्मण जैसे वृहदाकार गद्यग्रन्थ के तो कण्ठस्थ करने की कल्पना करना भी कठिन है। छान्दोग्योपनिषद्, ऐतरेयारण्यक, ऐतरेय-ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में अक्षरों के लिखित रूप की ओर संकेत किया गया है। वैदिक संहिताओं का अधिकांश भाग यद्यपि पद्य में है और उन्हें शुद्ध रूप में कण्ठस्थ करने की परम्परा अनेक ब्राह्मण परिवारों में रही है, परन्तु उनमें प्रयुक्त छन्दोरचना, गणना, समयविभाग आदि से अनुमान होता है कि वैदिक ऋषि अक्षरज्ञान और लेखनकला से अनभिज्ञ नहीं थे। भले ही भारत में विद्या को गुरुमुख से सुनकर कण्ठस्थ करने को अधिक महत्त्व दिया गया है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि प्राचीन भारतीय लोग लिखना नहीं जानते थे। भारत का जलवायु उष्ण और आर्द्र होने के कारण लेखन-सामग्री के अस्थिर और नश्वर होने से लेखन को स्मरण से कम महत्त्व मिला। जो कुछ लिखा भी गया उसमें से अधिकतर समय के साथ नष्ट हो गया, और हम तक पत्थर और धातु जैसे स्थिर पदार्थों पर लिखे हुए लेख ही पहुंच पाए हैं।

उपर्युक्त पारम्परिक और साहित्यिक प्रमाणों के अतिरिक्त पत्थर, धातु आदि अधिक स्थायी पदार्थों पर लिखे या खुदे ऐसे लेख भी हैं जिनसे प्राचीन भारत में लेखनकला के विकसित रूप में प्राप्त होने के प्रमाण मिलते हैं। सर्वोत्तम उदाहरण अशोक के अभिलेखों का है जो शिलाओं और प्रस्तरस्तम्भों पर ब्राह्मी या खरोष्ठी लिपि में और प्राकृत भाषा में लिखे गए हैं। ये अशोक के राज्य की सीमाओं में पेशावर से मैसूर और काठियावाड़ से उड़ीसा तक मिले हैं। इन अभिलेखों के अध्ययन से डा. बुह्लर इस निश्चय पर पहुंचे हैं—"अनेक स्थानीय रूपों का पाया जाना, और इतने घसीट रूपों का होना यह सिद्ध करता है कि अशोक के समय में लेखन-कला का इतिहास काफ़ी लम्बा रहा होगा। इससे यह भी सिद्ध होता है कि उस समय लिपि संक्रमण की अवस्था में थी। पुरागत रूपों के साथ साथ घसीट रूपों के इस्तेमाल का खुलासा संभवतः इस अनुमान से हो जाता है कि ई० पू० तीसरी शताब्दी में अनेक शैलियों का प्रयोग होता था। इनमें कुछ तो अंशतः अधिक पुरानी थीं, और कुछ अंशतः अधिक विकसित।"[१] अशोक ने अपने अभिलेखों में भिक्षुओं एवं उपासकों के दैनिक पाठ के लिये कुछ ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है जो अवश्य ही तालपत्रों पर या भूर्जपत्रों पर लिखे गए होंगे।

अशोक के शिलालेखों से प्राचीन अभिलेख भी प्राप्त हुए हैं। इनमें पिप्रह्वा बौद्ध-कलश-अभिलेख और बड़ली-अभिलेख विशेष महत्त्व के हैं। प्रथम अभिलेख उत्तरप्रदेश में ज़िला बस्ती से प्राप्त हुआ है। महात्मा बुद्ध के अवशेषों से युक्त अस्थिमञ्जूषा के शाक्यों को समर्पण का इस में उल्लेख है। इसका काल बुद्ध का निर्वाण काल अर्थात् ४८७ ई० पू० माना जाता है। दूसरा अभिलेख अज-

---

१. जार्ज बुह्लर, भारतीय पुरालिपिशास्त्र (हिन्दी), पृष्ठ १६.

मेर के निकट एक गांव से मिला है। इसमें "वीराय भगवते चतुसिते वसे" ये शब्द अंकित हैं, जिनका अर्थ है—'भगवान् (महा) वीर को उनके ८४वें वर्ष में (समर्पित)।' अतः गणना के अनुसार इसकी तिथि (५२७ - ८४) ४४३ ईसापूर्व है। इसके अतिरिक्त एरण-मुद्रा-विरुद, भट्टिप्रोलु-अवशेष-मंजूषा, द्राविडी अभिलेख, तक्षशिला-मुद्रा-ब्राह्मी-विरुद, महास्थान-प्रस्तर-अभिलेख (बोगरा, बंगलादेश से प्राप्त) और गोरखपुर जिले से प्राप्त सोहगोरा-ताम्रपट्ट अभिलेख भी अशोक के अभिलेखों से अधिक प्राचीन हैं।

इस शताब्दी के प्रथम चरण के अन्तिम वर्षों में सिन्धुघाटी में अनेक स्थानों की खुदाई से मिली मिट्टी की सीलों पर प्राप्त उभरे हुए लेखों से भारत में लेखन-कला की प्राचीनता कई हज़ार वर्ष अतीत की ओर सरक गई है। यद्यपि इन लेखों को अभी विश्वसनीय रूप से पढ़ा नहीं जा सका है और इसका ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपि से भी अभी तक कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सका है, तथापि इतना तो स्पष्ट है, कि चौथी सहस्राब्दी ईसापूर्व में भी भारत के लोग लिखना-पढना जानते थे।

२—प्राचीन भारत में लेखन-सामग्री

लेखनसामग्री दो प्रकार की होती है। एक वह जिसपर लिखा जाता है और दूसरी वह जिससे लिखा जाता है। प्राचीन भारत में लम्बे लेख, पुस्तकें आदि कोमल और शीघ्र नष्ट होने वाले पदार्थों पर लिखी जाती थीं, जबकि धार्मिक और राजकीय अनुशासन, प्रशस्तियां, दान-पत्र आदि पत्थर, ताम्रपत्र, आदि चिरस्थायी वस्तुओं पर लिखे जाते थे। नीचे की पंक्तियों में इन सामग्रियों का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।[1]

प्राचीन काल में लेखन-सामग्री के रूप में बौद्ध ग्रन्थों में **पण्ण** (=पर्ण) सम्भवतः **तालपत्र** का विशेष उल्लेख मिलता है। यह वृक्ष अधिकतर दक्षिण भारत में मिलता है। इससे पता चलता है कि तालपत्रों पर लिखने का रिवाज दक्षिण भारत में प्रारम्भ हुआ और धीरे-धीरे सारे भारत में फैल गया। तालपत्र का लेखन के लिये प्रयोग भारत के अनेक भागों में भूर्जपत्र के प्रयोग से प्राचीनतर है। इस तथ्य की पुष्टि इस बात से होती है कि लेखन में प्रयुक्त भूर्जपत्र तालपत्रों के आकार में कटे मिले हैं। युवान्-च्वांग की जीवनी में सुरक्षित एक परम्परा के अनुसार बुद्ध की मृत्यु के तत्काल बाद हुई प्रथम संगीति में बौद्ध आगम ताल-

---

१. विस्तृत विवरण के लिये देखिये, जार्ज बुह्लर, **भारतीय पुरालिपिशास्त्र** (हिन्दी), पृ० १९०-२०२; ओझा, गौ० ही०, **भारतीय प्राचीन लिपिमाला**, पृ० १४२-५८, राजबली पाण्डेय, **भारतीय पुरालिपि** (हिन्दी), पृ० ६०-८०।

पत्रों पर ही लिपिबद्ध किए गए थे। लिखने के काम में लाने से पहले तालपत्रों को सुखा लिया जाता था। फिर उन्हें उबाला या पानी में भिगोया जाता था। सुखाकर उन्हें शंख या पत्थर से घोट कर चिकना किया जाता था। लिखाई के लिये तय्यार तालपत्र की लम्बाई एक फुट से तीन फुट और चौड़ाई चार इंच से सवा फुट तक होती थी। हस्तलिखित ग्रन्थों को देखने से पता चलता है कि उत्तर-पश्चिमी, मध्य और पूर्वी भारत में तालपत्रों पर रोशनाई से लिखा जाता था। दक्षिण भारत में शलाका अर्थात् लोहे की कील से तालपत्र पर अक्षर खोदे जाते थे और फिर काजल या कोयले के चूर्ण से पोत दिये जाते थे। पत्र (=तालपत्र) शब्द ने इतनी प्रसिद्धि पाई कि आजकल लेखन के लिये प्रयोग में लाए जाने वाले कागज़ आदि के लिये भी पत्र शब्द का प्रयोग प्रचलित हो गया है। कम लम्बाई वाले पत्रों में एक सिरे के पास और अधिक लम्बाई वाले पत्रों में दोनों सिरों के पास छेद किये जाते थे। उनके बीचोंबीच डोरी डालकर ग्रन्थि (गाँठ) लगा दी जाती थी। इस प्रकार ग्रन्थियुक्त पत्रों के समूह को ग्रन्थ संज्ञा दी जाती थी, जो कागज़ से बनने वाली पुस्तकों के लिये भी प्रसिद्ध हो गई है।

लेखन-सामग्री के रूप में प्रयुक्त होने वाली दूसरी वस्तु भूर्जपत्र था। भूर्ज-वृक्ष हिमालय पर बहुलता से उत्पन्न होते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि भूर्जपत्र पर लिखने का रिवाज उत्तर भारत में प्रारम्भ हुआ। भूर्जपत्र कहा जाने वाला पदार्थ भूर्ज-वृक्ष की भीतरी छाल होती थी। लेखन-सामग्री के रूप में भूर्ज-पत्र का सर्वप्रथम उल्लेख यूनानी लेखक क्विन्टस कर्टियस ने किया है। अमरसिंह ने अपने कोश और कालिदास ने **कुमारसम्भव** में इसका उल्लेख किया है। उत्तरी बौद्ध-ग्रन्थों में भी भूर्जपत्र का लेखन के उपकरण के रूप में अनेकशः उल्लेख हुआ है। अल्बेरूनी ने भी लेखन-सामग्री के रूप में इसका वर्णन किया है। भूर्जपत्र विभिन्न परिमाणों में मिले हैं। आवश्यकता और रुचि के अनुसार इनके टुकड़ों को काट लिया जाता था। अल्बेरूनी के अनुसार ये टुकड़े सवा गज़ लम्बे और नौ इंच चौड़े होते थे। उन्हें घोटकर लिखने योग्य बनाया जाता था। इनपर सरकंडे या नरकुल के कलम से स्याही के साथ लिखा जाता था। एक से अधिक पत्रों को क्रमसंख्या से निर्दिष्ट किया जाता था। उन्हें एक वस्त्र के टुकड़े में लपेट कर दो पट्टियों के बीच बांध दिया जाता था। इसे पुस्त, पुस्तक या पोथी कहा जाता था। भूर्जपत्र पर लिखी सबसे प्राचीन कृति खोतान से मिले खरोष्ठी लिपि में लिखे **धम्मपद** के कुछ अंश हैं। अनेक हस्तलिखित ग्रन्थों के पत्रे ताड़-पत्रों के आकार के मिले हैं। ताड़पत्रों की ही तरह एक ओर या दोनों ओर छेद करके इनको डोरे से बांध दिया जाता था। लेखन में कागज़ का प्रयोग आरम्भ होने के पश्चात् भूर्ज-पत्र का प्रयोग बहुत कम हो गया है। अब यह केवल मांगलिक लेखों और जंत्र-तन्त्र के लिये ही काम में लाया जाता है।

रूई के कपड़े का प्रयोग भी लिखने के लिये होता रहा है। इमली के बीज की लेई लगाकर और घोटकर कपड़े को तय्यार किया जाता था। जैसलमेर के **बृहज्ज्ञानकोष** में बुह्लर को रेशम की पट्टी पर लिखी जैन सूत्रों की एक सूची मिली थी। इसपर रोशनाई से लिखा गया था। लेखन-सामग्री के रूप में **काष्ठ और बांस की पट्टियों का प्रयोग** भी होता था। बांस की शलाकाओं को बौद्ध-भिक्षु पास्पोर्ट के रूप में लेकर चलते थे। **चमड़े** पर लिखी कोई भी पुस्तक भारत में नहीं मिली है। भारत में धार्मिक दृष्टि से चमड़े को अपवित्र समझा जाता था। वैसे **वासवदत्ता** के एक प्रकरण में चमड़े पर लिखाई का संकेत है। जैसलमेर के **जैन बृहज्ज्ञानकोष** में लिखाई के लिये तय्यार एक कोरा चर्म-पत्र मिला भी है।

ऐसा माना जाता है कि **कागज** का आविष्कार चीन में ईसा से १०० वर्ष के पश्चात् हुआ और भारत में कागज़ का प्रयोग मुगल-काल में प्रारम्भ हुआ। परन्तु सिकन्दर का सेनापति नेआरकस लिखता है कि ३२५ ई० पू० के लगभग भारत के लोग कपड़ा कूटकर लिखने का कागज़ बनाते हैं। धारा-नरेश भोज (११वीं शती) के काल में भी कागज़ के प्रयोग के प्रमाण मिलते हैं।

स्थायी लेखन के लिये **पत्थर** का प्रयोग हुआ है। अशोक ने अपने शिला-लेख-२ (टोपरा संस्करण) में इस बात का उल्लेख भी किया है कि उसने अपने आदेशों को चिरस्थायी बनाने के लिये पत्थरों पर खुदवाया है (**चिलं-थितिका च होतूतीति**)। लेखों को खुदवाए जाने का काम चिकनी तथा खुरदरी चट्टानों, प्रस्तर-स्तम्भों, शिलापट्टों, मन्दिरों की दीवारों, गुफाओं और मूर्तियों के आसनों तथा पृष्ठ-भागों पर किया गया है। लिखे जाने वाली सामग्री प्रायः धार्मिक शासन, राजकीय आदेश, प्रशस्तियां, सन्धि-पत्र, दानपत्र आदि होते थे। कभी कभी बड़ी साहित्यिक कृतियां भी पत्थर पर लिखी जाती थीं। **ईंटों** का प्रयोग लिखाई के लिये कम हुआ है। कच्ची ईंट पर अक्षर खोदकर उसे आग में पका लिया जाता था।

पत्थर की तरह धातुओं पर भी स्थायी लेख लिखे जाते थे। इसके लिये सर्वाधिक प्रयोग **ताम्रपत्रों** का हुआ है। फ़ाहियान (४०० ई०) के अनुसार बौद्ध बिहारों में ताम्रपत्रों पर खुदे दानपत्र थे। **सोहगौरा-पट्ट** से पता चलता है कि मौर्यकाल में राजकीय आदेश तांबे पर खोदे जाते थे। युवान-च्वांग का कथन है कि कनिष्क ने एक बौद्ध-संगीति बुलवाई थी जिसमें सुत्तपिटक, विनयपिटक और **अभिधम्मपिटक** की ताम्रपत्रों पर टीकाएं लिखवाई गई थीं। कहते हैं कि सायण का **वेदभाष्य** भी ताम्रपत्रों पर लिखवाया गया था। छठी शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक लिखाई के लिये तांबे का प्रयोग बहुत अधिक हुआ है। ताम्र-पत्र हथोड़े से पीटकर तय्यार किये जाते थे, परन्तु **सोहगौरा-पत्र** बालू के सांचे में ढाला गया था। विभिन्न माप और मोटाई के ताम्रपत्र तय्यार किये जाते थे।

कुछ तो बहुत ही पतले, लचीले और हलके होते थे। ताम्रपत्र प्राय: दक्षिण में तालपत्रों और उत्तर में भूर्जपत्रों के आदर्श पर तय्यार किये जाते थे। तालपत्र के आदर्श पर बना **तक्षशिला-ताम्रपत्र** इसका अपवाद है। एक ताम्रशासन के लिये एक से अधिक पट्ट भी तय्यार किये जाते थे, जो समान आकार-प्रकार के होते थे। उनमें छेद करके उन्हें तांबे के छल्लों से बांध दिया जाता था। राजकीय शासनों में पट्टों पर विभिन्न प्रकार से राजकीय मुद्रा भी लगा दी जाती थी।

तांबे के अतिरिक्त **सोना, चांदी, पीतल, कांसा, लोहा** आदि धातुओं का प्रयोग भी लेखन के लिये हुआ तो है, परन्तु बहुत कम। **सोना** बहुमूल्य होने के कारण बहुत कम प्रयोग में लाया गया है। कनिंघम को स्वर्ण-पट्ट पर खरोष्ठी लिपि में लिखा एक दान-अभिलेख तक्षशिला के समीप गंगू-स्तूप से मिला था। लेखन के लिये **चांदी** का प्रयोग सोने से भी कम हुआ है। अभिलेखों के लिये **पीतल** का प्रयोग शायद ही कभी हुआ हो। मूर्तियों के पाद-पीठ या पीठ पर कुछ छोटे लेख अंकित मिले है। **कांसे** की घंटियों पर दाताओं के नाम तथा दान-तिथियां खुदी पाई गई हैं। **लोहे** को ज़ंग लगने के कारण लेखन के अनुपयुक्त समझा गया है, परन्तु मेहरौली का लौहस्तम्भ जिस पर चन्द्र का अभिलेख उत्कीर्ण है, ऐसे तकनीक से बनाया गया है कि उसे कभी ज़ंग नहीं लगता। ब्रिटिश म्यूज़ियम में सुरक्षित बौद्ध हस्तलिपि का नमूना **रांगे** पर खुदाई का एकमात्र उदाहरण है।

पत्थर अथवा धातु आदि कड़े पदार्थों पर लेखन के लिये बरमे, छेनी आदि से काम चल जाता था, किन्तु तालपत्र, भूर्जपत्र, कपड़े, कागज़ आदि पर **स्याही** से लिखा जाता था। स्याही के लिये **मषि, मषी** या **मसि, मसी** शब्दों का प्रयोग हुआ है। यह शब्द **मष्** 'हिंसायाम्' धातु से सिद्ध होता है, और इससे पीसे हुए कोयले या उसके चूर्ण का बोध होता है, जिसमें पानी, गोंद, गुड़ आदि मिलाकर उसे तय्यार किया जाता था। पीपल की लाख को गोमूत्र में पकाकर पक्की रोशनाई तय्यार की जाती थी। कुछ भागों में स्याही के लिये प्रयुक्त होने वाला शब्द **मेला** है जिसे बेन्फे आदि विद्वान् यूनानी शब्द **melas** का प्रतिरूप मानते हैं। वस्तुत: यह शब्द प्राकृत **मैल** का प्रतिरूप है और इसका अर्थ 'काला' है। दवात के लिये संस्कृत कोशों में मिलने वाले शब्द **मसिपात्र, मसिभाण्ड, मसिकुपिका, मेलनन्द, मेलन्धु** आदि हैं। नेआर्कस और क्विन्टस कर्टियस के उल्लेखों से भारत में चौथी शताब्दी ईसापूर्व में स्याही का प्रयोग प्रमाणित होता है। अंधेर-स्तूप की **अस्थिमंजूषा** पर स्याही की लिखाई का सबसे प्राचीन उदाहरण उपलब्ध है, जो दूसरी शताब्दी ईसापूर्व के लगभग का है। स्याही का व्यापक प्रयोग खोतान से प्राप्त प्रथम शती ई० पू० की खरोष्ठी हस्तलिपियों में प्राप्त होता है। काली के अतिरिक्त लाल, पीली आदि रोशनाईयों के प्रयोग के प्रमाण भी मिलते

कुछ तो बहुत ही पतले, लचीले और हलके होते थे। ताम्रपत्र प्रायः दक्षिण में तालपत्रों और उत्तर में भूर्जपत्रों के आदर्श पर तय्यार किये जाते थे। तालपत्र के आदर्श पर बना **तक्षशिला-ताम्रपत्र** इसका अपवाद है। एक ताम्रशासन के लिये एक से अधिक पट्ट भी तय्यार किये जाते थे, जो समान आकार-प्रकार के होते थे। उनमें छेद करके उन्हें तांबे के छल्लों से बांध दिया जाता था। राजकीय शासनों में पट्टों पर विभिन्न प्रकार से राजकीय मुद्रा भी लगा दी जाती थी।

तांबे के अतिरिक्त **सोना, चांदी, पीतल, कांसा, लोहा** आदि धातुओं का प्रयोग भी लेखन के लिये हुआ तो है, परन्तु बहुत कम। **सोना** बहुमूल्य होने के कारण बहुत कम प्रयोग में लाया गया है। कनिंघम को स्वर्ण-पट्ट पर खरोष्ठी लिपि में लिखा एक दान-अभिलेख तक्षशिला के समीप गंगू-स्तूप से मिला था। लेखन के लिये **चांदी** का प्रयोग सोने से भी कम हुआ है। अभिलेखों के लिये **पीतल** का प्रयोग शायद ही कभी हुआ हो। मूर्तियों के पाद-पीठ या पीठ पर कुछ छोटे लेख अंकित मिले है। **कांसे** की घंटियों पर दाताओं के नाम तथा दान-तिथियां खुदी पाई गई हैं। **लोहे** को जंग लगने के कारण लेखन के अनुपयुक्त समझा गया है, परन्तु मेहरौली का लौहस्तम्भ जिस पर चन्द्र का अभिलेख उत्कीर्ण है, ऐसे तकनीक से बनाया गया है कि उसे कभी जंग नहीं लगता। **ब्रिटिश म्यूज़ियम** में सुरक्षित बौद्ध हस्तलिपि का नमूना **रांगे** पर खुदाई का एकमात्र उदाहरण है।

पत्थर अथवा धातु आदि कड़े पदार्थों पर लेखन के लिये बरमे, छेनी आदि से काम चल जाता था, किन्तु तालपत्र, भूर्जपत्र, कपड़े, कागज़ आदि पर **स्याही** से लिखा जाता था। स्याही के लिये **मषि, मषी** या **मसि, मसी** शब्दों का प्रयोग हुआ है। यह शब्द **मष्** 'हिंसायाम्' धातु से सिद्ध होता है, और इससे पीसे हुए कोयले या उसके चूर्ण का बोध होता है, जिसमें पानी, गोंद, गुड़ आदि मिलाकर उसे तय्यार किया जाता था। पीपल की लाख को गोमूत्र में पकाकर पक्की रोशनाई तय्यार की जाती थी। कुछ भागों में स्याही के लिये प्रयुक्त होने वाला शब्द **मेला** है जिसे बेन्फे आदि विद्वान् यूनानी शब्द **melas** का प्रतिरूप मानते हैं। वस्तुतः यह शब्द प्राकृत **मैल** का प्रतिरूप है और इसका अर्थ 'काला' है। दवात के लिये संस्कृत कोशों में मिलने वाले शब्द **मसिपात्र, मसिभाण्ड, मसिकुपिका, मेलनन्द, मेलन्धु** आदि हैं। नेआर्कस और क्विन्टस कर्टियस के उल्लेखों से भारत में चौथी शताब्दी ईसापूर्व में स्याही का प्रयोग प्रमाणित होता है। अंधेर-स्तूप की **अस्थिमंजूषा** पर स्याही की लिखाई का सबसे प्राचीन उदाहरण उपलब्ध है, जो दूसरी शताब्दी ईसापूर्व के लगभग का है। स्याही का व्यापक प्रयोग खोतान से प्राप्त प्रथम शती ई० पू० की खरोष्ठी हस्तलिपियों में प्राप्त होता है। काली के अतिरिक्त लाल, पीली आदि रोशनाईयों के प्रयोग के प्रमाण भी मिलते

हैं । जैन लोग अपने हस्तलिखित ग्रन्थों में अनेक प्रकार की रोशनाईयों का प्रयोग करते थे ।

महाकाव्यों में लिखने के औज़ार के लिये **लेखनी** शब्द का प्रयोग हुआ है । यह शब्द बहुत व्यापक है और लोहे, सरकंडे, नरकुल आदि से बनी कलम और ब्रश आदि के लिये भी प्रयुक्त हुआ है । इसी अर्थ में प्रयुक्त दूसरा शब्द **वर्णक** 'वर्ण बनाने वाला' है । इसके अतिरिक्त **वर्णिका, वर्णवर्तिका, तूलि, तूलिका** और **शलाका** आदि शब्दों का भी प्रयोग हुआ है । यूनानी शब्द **कलम** (**kalamos**) का भी अरबी के माध्यम से इस देश में प्रचलन हुआ ।

३—प्राचीन भारतीय लिपियां

लिपि का प्राचीनतम निर्देश पाणिनीय **अष्टाध्यायी** में प्राप्त होता है । लिपि के लिए **लिपि** और लेखक के लिए **लिपिकर** शब्द का प्रयोग हुआ है । यहां यवनों की लिपि के लिये **यवनानी** शब्द का प्रयोग मिलता है । लिपि शब्द का प्रयोग कौटलीय **अर्थशास्त्र** (१।५।२) में भी है । अशोक के अभिलेखों में लिपि, लिवि और दिपि शब्द मिलते हैं । ये अभिलेख ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों में लिखे गए हैं, परन्तु यहां लिपियों के नामों का कोई संकेत नहीं है। **पण्णावणा-सूत्र** और **समवायाङ्ग-सूत्र** नामक जैन ग्रन्थों में १८ लिपियों की सूची दी गई है। **भगवती-सूत्र** में ब्राह्मीलिपि को नमस्कार किया गया है (**नमो बंभीये लिविये**) । बौद्ध ग्रन्थ **ललितविस्तर** में ६४ लिपियों की एक सूची दी गई है । डा० राजबली पाण्डेय ने इनको देशी, विदेशी, प्रादेशिक, जातीय, साम्प्रदायिक आदि १५ वर्गों में विभक्त किया है । वस्तुतः प्राचीन भारतीय अभिलेखों में प्रयुक्त लिपियां **ब्राह्मी** और **खरोष्ठी** ही हैं । अब १९२१ में हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाई से एक तीसरी लिपि भी प्रकाश में आई है, जो **सिन्धु-घाटी की लिपि** के नाम से प्रसिद्ध हो गई है । नीचे की पंक्तियों में इन तीनों लिपियों पर संक्षेप से प्रकाश डाला जाएगा ।

(१) **सिन्धुघाटी-लिपि** : भारत में लेखनकला का प्राचीनतम नमूना सिन्धुघाटी की खुदाई में मिली लिपि है । इस लिपि की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों के तीन मत हैं : (क) **द्रविड़ उत्पत्ति**—एच० हेरास और जॉन मार्शल इस मत के प्रबल समर्थक हैं । उनका कथन है कि सिन्धुघाटी की खुदाई में मिली सभ्यता द्रविडी सभ्यता है, इसलिये इस लिपि को जन्म देने और विकसित करने वाले द्रविड लोग ही हैं । (ख) **सुमेरी उत्पत्ति**—एल० ए० वैडेन और डा० प्राणनाथ का मत है कि सिन्धुघाटी-लिपि का विकास सुमेरी लिपि से हुआ है । वैडेल का कथन है कि ४००० वर्ष पूर्व सुमेरी लोग सिन्धुघाटी में निवास करते थे और उन्हीं की भाषा और लिपि यहां प्रचलित थी । (ग) डा० के० एन०

दीक्षित आदि कुछ विद्वानों का विचार है कि सिन्धुघाटी में जाति और संस्कृति मे आर्यों से ही सम्बन्ध रखने वाले असुर (पणि) लोग निवास करते थे। ये लोग ही इस लिपि के जनक हैं। इन विद्वानों का यह भी विचार है कि प्राचीन एलामाईट, सुमेरी और मिस्री लिपियों से इस लिपि की समानता इस कारण से है, क्योंकि उपर्युक्त तीनों ही देशों में लिपि भारत से गई है। उपर्युक्त तीनों मत अपने अपने समर्थकों को हो मान्य हैं। जब तक इस क्षेत्र में किसी दृढ़ आधार वाले सूत्र की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक इस लिपि की उत्पत्ति के बारे में निश्चित रूप से कुछ कह पाना कठिन है।

सिन्धुघाटी-लिपि में कुछ चिह्न तो चित्रात्मक हैं और कुछ अक्षरात्मक। विद्वानों का विचार है कि यदि यह लिपि शुद्ध भावमूलक होती तो इतने थोड़े चिह्नों से काम नहीं चल सकता था। उनके अनुसार यह लिपि भावमूलकता से अक्षरात्मकता के संक्रमणकाल में है। इसीलिए कुछ चिह्न चित्रों जैसे हैं और कुछ अक्षरों जैसे। चिह्नों की संख्या के विषय में भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है।

(२) **खरोष्ठी-लिपि** : खरोष्ठी लिपि के जितने भी अभिलेख अब तक मिले है उनमें से अधिकांश ६९° से ७३°.३७′ पूर्व देशान्तर और ३३° से ३५° उत्तर अक्षांश के बीच के हैं। ये प्रायः पूर्वी अफ़ग़ानिस्तान और उत्तरी पंजाब के उस भूभाग से प्राप्त हुए हैं जो गांधार नाम से प्रसिद्ध था। अशोक के मानसेहरा और शहबाज़गढ़ी से मिले शिलालेख खरोष्ठी लिपि में हैं। मध्य एशिया से भी अनेक लेख और सिक्के इस लिपि में मिले हैं। भूर्जपत्र पर खरोष्ठी लिपि में लिखी **धम्मपद** की एक प्रति भी खोतान से प्राप्त हुई है। यह लिपि चौथी शताब्दी ई० पू० से लगभग चौथी पांचवीं शताब्दी ई० तक प्रचलित रही। यद्यपि उत्कीर्ण लेखों में खरोष्ठी का प्रयोग हुआ है पर यह जनसाधारण की लिपि थी। लिपिक और व्यापारी लोग इसका विशेष रूप से प्रयोग करते थे।

खरोष्ठी के नामकरण के विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। कुछ का विचार है कि खरोष्ठी शब्द **खर** और **ओष्ठ** इन दो संस्कृत शब्दों से मिलकर बना है, और इस लिपि को खरोष्ठी इसलिये कहा जाता है कि इसके अक्षर गधे के होंठों जैसे हैं। चीनी परम्परा के अनुसार खरोष्ठी लिपि का आविष्कारक खरोष्ठ नामक ऋषि था। उसी के नाम पर इसका नाम खरोष्ठी पड़ गया। कुछ विद्वानों ने खरोष्ठी को खरोष्ट्री से सम्बन्धित किया है और खरोष्ट्र की समता ईरान के प्राचीन सन्त जरथुस्त्र या जरदुष्ट से की है। कुछ का मत है कि यह लिपि काशगर प्रदेश में प्रचलित थी और काशगरी कहलाती थी। काशगरी शब्द का ही विकसित रूप खरोष्ठी है। अन्य कहते हैं कि गधे (खर) की खाल (पोस्त) पर लिखे जाने के कारण यह लिपि ईरानी प्रदेश में खरपोस्ती कहलाती थी और कालान्तर में खरोष्ठी नाम से प्रसिद्ध हो गई। एक अन्य मत के अनुसार खरोष्ठी शब्द

तुर्क, तिब्बती आदि उन बर्बर जातियों के लिये प्रयुक्त होता था जो हिन्दुकुश, हिमालय और पामीर की ढलानों पर फैली हुई थीं और गधे (खर), घोड़े (अस्प), ऊँट (उष्ट्र) आदि पशु पालती थीं। इन्हीं के नाम पर इस लिपि का नाम खरोष्ठी पड़ गया। एक दूसरे मत के अनुसार खरोष्ठी शब्द हिब्रू शब्द खरोशेथ 'लिखावट' का संस्कृत प्रतिरूप है। वस्तुत: खरोष्ठी लिपि के नामकरण के विषय में निश्चित रूप से कुछ कह सकना कठिन है।

खरोष्ठी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ इसे अरामई लिपि से विकसित मानते है तो दूसरे इसके शुद्ध भारतीय लिपि होने का दावा करते हैं। प्रथम मत के प्रतिपादक जी. बुह्लर हैं। उनका कथन है कि खरोष्ठी लिपि अरामई लिपि की तरह दाएं से बाएं को लिखी जाती है। बनावट की दृष्टि से इसके ११ अक्षर अरामई लिपि के अक्षरों से समानता रखते हैं। खरोष्ठी अरामई से अर्वाचीन है और कन्धार तथा तक्षशिला में अरामई लिपि के लेख मिलने से यह सिद्ध होता है कि भारत से अरामई लोगों का सम्बन्ध था। अत: यह स्पष्ट है कि खरोष्ठी लिपि का उद्‌गम अरामई लिपि से हुआ है। डा. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा और डा. डिरिंजर भी इस मत से सहमत हैं। डा. राजबली पाण्डेय आदि विद्वान् खरोष्ठी लिपि की उत्पत्ति को विशुद्ध भारतीय मानते हैं। उनका कथन है कि प्राचीनतम खरोष्ठी अभिलेख उत्तर-पश्चिमी भारत में ही प्राप्त हुए हैं। मध्यएशिया या अन्य देशों से मिलने वाले खरोष्ठी अभिलेख बाद की तिथि के हैं। वे भारतीय प्रवासियों और धर्मोपदेशकों द्वारा वहां ले जाए गए थे। बाहर के देशों में भी खरोष्ठी का प्रयोग भारतीय भाषाओं के लिये ही हुआ है। दाएं से बाएं लिखे जाने के बावजूद इसके वर्ण, रचना-पद्धति आदि भारतीय ही हैं। वस्तुत: इन दोनों ही मतों में आंशिक सत्यता है। डा. बुह्लर के इस मत से इंकार नहीं किया जा सकता कि खरोष्ठी ने अनेक वर्ण और लिखने की दिशा उत्तर-पश्चिमी भारत में हख़ामनी-प्रशासन में प्रचलित अरामई लिपि की प्रेरणा से प्राप्त की थी। दूसरी ओर यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि खरोष्ठी के विकास पर ब्राह्मी का गहरा प्रभाव है। घ, ध, भ आदि व्यञ्जन-चिह्न, जो अरामई में नहीं थे, ब्राह्मी से ही लिये गये हैं। वृत्त, रेखा आदि चिह्नों द्वारा ह्रस्व स्वरों का अंकन भी इसमें ब्राह्मी का ही प्रभाव है।

(३) **ब्राह्मी-लिपि**—प्राचीन भारतीय अभिलेखों में सर्वाधिक प्रयुक्त लिपि ब्राह्मी है। विद्वान् इसके नामकरण के भिन्न भिन्न कारण प्रस्तुत करते हैं। कुछ का विश्वास है कि इसका आविष्कारक ब्रह्मा था, अत: यह ब्राह्मी कहलाती है। दूसरों का मत है कि ब्रह्म अर्थात् वेद की रक्षा के लिए आर्यों ने इसका आविष्कार किया था, अत: इसका नाम ब्राह्मी पड़ा। अन्य का विचार है कि हिन्दुओं के साक्षर वर्ग ब्राह्मणों द्वारा प्रयुक्त होने के कारण इसका ब्राह्मी नामकरण हुआ।

ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के विषय में भी विद्वानों के अनेक मत हैं। कुछ विदेशी उत्पत्ति के पोषक हैं तो अन्य भारतीय उत्पत्ति के समर्थक। विदेशी व्युत्पत्ति के पोषकों में मुख्य रूप से दो वर्ग हैं—(१) यूनानी लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति मानने वाले, और (२) सामी (सेमेटिक) अक्षरों से ब्राह्मी की उत्पत्ति स्वीकार करने वाले। जहां तक यूनानी उद्गम का प्रश्न है वह जेम्स प्रिंसेप आदि अनेक पश्चिमी विद्वानों की उस पूर्वाग्रहपूर्ण कल्पना पर आधारित है, जिसके अनुसार भारत के किसी भी श्रेष्ठ विज्ञान अथवा कला का उद्गम यूनानी स्रोत से बताने की आदत सी पड़ गई थी। ब्राह्मी लिपि के उद्गम की संभावना यूनानी लिपि से बताते हुए उन्होंने कहा कि फोनोशियन लोग व्यापार के माध्यम से इस लिपि को भारत में लाए। दूसरी सम्भावना यह व्यक्त की जाती है कि सिकन्दर के भारत में आगमन के साथ यूनानी लिपि का सम्पर्क भारत के साथ हुआ। परन्तु हम देखते हैं कि जिस काल में सिकन्दर के आक्रमण या फोनीशियन व्यापारियों के द्वारा यूनानी लिपि का भारत से सम्पर्क बताया जाता है उस समय भारत में लेखन-कला समृद्ध अवस्था में थी। अत: यह विचार भ्रामक है। सामी उद्गम से ब्राह्मी लिपि का विकास मानने वाले विद्वानों के दो वर्ग हैं। एक वह जो दक्षिणी सामी से ब्राह्मी का उद्-गम मानता है और दूसरा वह जो उत्तरी सामी वर्णमालाओं से। जहां तक दक्षिणी सामी अर्थात् अरबी लिपि का सम्बन्ध है, ब्राह्मी पर उसका कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। यद्यपि भारत के अरब के साथ व्यापारिक सम्बन्ध थे, परन्तु अरबी लिपि और ज्ञान-विज्ञान ने केवल आक्रमणकारियों या धर्म के प्रचारकों के साथ ही सातवीं शताब्दी से भारत में प्रवेश किया। ब्राह्मी और अरबी अक्षरों में भी किसी प्रकार की समानता दृष्टिगोचर नहीं होती। वेबर ब्राह्मी को उत्तरी सामी अर्थात् फोनोशियन वर्णमालाओं से विकसित मानने के पक्ष में था। बुह्लर ने इस मान्यता को नए सिरे से खड़ा किया है। उसका कथन है कि अब उन सिद्धान्तों को पहचानना कठिन नहीं है जिनसे सामी चिह्नों को भारतीय चिह्नों में बदला गया था। परन्तु डा. पाण्डेय का यह कथन उचित ही है कि बुह्लर ने जिस प्रकार कहीं नीचे लटकती लकीर को ऊपर घुमाकर, कहीं एक लकीर को ऊपर, नीचे, दाएं या बाएं हटाकर, कहीं तिरछी लकीर को सीधी करके, कहीं पड़ी लकीर को खड़ी करके, कहीं त्रिकोण को धनुषाकार बनाकर, कहीं कोण को अर्धवृत्त में परिवर्तित करके, या लकीरों को छोटी बड़ी करके केवल ७ अक्षरों में समानता दिखाने में सफलता प्राप्त की है, और वह भी केवल भिन्न ध्वनि वाले अक्षरों में, उस प्रकार तो संसार की किन्हीं भी दो लिपियों में समानता स्थापित की जा सकती है। डा. डेविड डिरिंजर ने भी ब्राह्मी को उत्तरी सेमेटिक से विकसित माना है परन्तु वह अरामई वर्णमाला को ब्राह्मी का मूलरूप मानता है। वर्तमान काल में सामी से ब्राह्मी की उत्पत्ति का प्रबल समर्थक अहमद हसन दानी है। इन सभी विद्वानों के

मत इस पूर्वाग्रह पर आधृत हैं कि प्राचीन हिन्दु किसी लिपि के निर्माण के अयोग्य थे और उन्होंने प्राचीन यूनानियों की तरह अपनी लिपि का निर्माण सामी लिपि के आधार पर किया था। सिन्धु-घाटी की लिपि का पता चल जाने पर अब यह भ्रान्ति दूर हो जानी चाहिये। डा. डिरिंजर का यह कथन अमान्य है कि सिन्धु-घाटी की चित्रात्मक या भावध्वनिमूलक लिपि से अक्षरात्मक या वर्णात्मक ब्राह्मी का विकास सम्भव नहीं है। इसके विपरीत यह देखा गया है कि संसार की सभी लिपियां मूल में चित्रात्मक थीं, और उनसे वर्णात्मक लिपियों का विकास हुआ। उपर्युक्त चर्चा से स्पष्ट होता है कि किसी भी सामी लिपि से ब्राह्मी का उद्गम स्वीकार नहीं किया जा सकता। स्वयं इस मत के पक्षधरों में भिन्न भिन्न मत होने के कारण इस तथ्य की पुष्टि होती है।

स्वदेशी उत्पत्ति का सिद्धान्त—(क) द्रविड-मूल का सिद्धान्त—यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि आर्यों के भारत में आगमन से पूर्व द्रविड एक सभ्य और सुसंस्कृत जाति थी जो सारे भारतवर्ष में फैली हुई थी। उसने अवश्य लेखनकला का आविष्कार किया होगा। इस मत को स्वीकार करने के लिये कोई ठोस प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं है। शुद्ध द्रविड भाषा तमिल में वर्गों के केवल प्रथम और पञ्चम वर्ण ही पाए जाते हैं। इस प्रकार ध्वनि-शास्त्रीय दृष्टि से कम समृद्ध द्रविड भाषा किसी प्रकार ब्राह्मी की उत्पत्ति का कारण नहीं हो सकती। यदि सिन्धुघाटी-लिपि द्रविड-लिपि सिद्ध हो जाए, तथा सिन्धुघाटी-लिपि और ब्राह्मी-लिपि के बीच की कोई कड़ी मिल जाए तो यह सिद्धान्त स्वीकार्य हो सकता है।

(ख) आर्यमूल का सिद्धान्त—एडवर्ड थामस, दोयसन, कर्निंघम, लासेन आदि विद्वानों का विचार है कि भारतीयों ने ही किसी चित्रलिपि के आधार पर ब्राह्मी लिपि का विकास किया। बुह्लर को आपत्ति थी कि भारत में कोई चित्रात्मक लिपि उपलब्ध नहीं है। परन्तु अब सिन्धुघाटी की लिपि प्रकाश में आ जाने से इस आपत्ति का निराकरण हो गया है। जिस दिन सिन्धुघाटी-लिपि और ब्राह्मी के बीच की कोई कड़ी मिल गई, उसी दिन सारी समस्या सुलझ जाएगी। यह बात दूसरी है कि मूल लिपि द्रविड सिद्ध हो या आर्य। डा. बुह्लर को एरण के तांबे के सिक्के पर जो लेख दाएं से बाएं को लिखा मिला था और जिसे उसने ब्राह्मी के सामी उद्गम का एक कारण माना था, वह भ्रांति अब दूर हो गई है। वस्तुतः यह लेख किन्हीं विशेष परिस्थितियों में ही इस प्रकार लिखा गया था। ब्राह्मी लिपि आरम्भ से ही बाएं से दाएं को लिखी जाती रही है। विस्तृत वैदिक साहित्य की रक्षा के प्रयोजन से ही आर्यों ने इस लिपि का विकास किया होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

ब्राह्मी की मुख्यतया दो शैलियां भारत में विकसित हुईं। एक दक्षिणी ब्राह्मी

जिससे तमिल आदि द्रविड भाषाओं की लिपियां निकली हैं, और दूसरी उत्तरी ब्राह्मी जिससे आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की लिपियों का विकास हुआ है।

४—प्राचीन भारतीय लिपियों का पठन

मुसलमान काल तक आते आते भारतीय लोग अपनी प्राचीन लिपियों को भूल चुके थे और उन्हें पढ़ने में असमर्थ थे। १४वीं शताब्दी में जब फीरोजशाह तुग़लक ने टोपरा और मेरठ से अशोक के स्तम्भलेखों को दिल्ली लाकर स्थापित किया तो मौलवी और पण्डित लोग उन्हें पढ़ न सके। इसी प्रकार अकबर ने भी एक बार इन प्राचीन अभिलेखों को पढ़वाने का असफल प्रयास किया था। इन प्राचीन अभिलेखों को पढ़ने का श्रीगणेश वस्तुतः सर विलियम जोन्स द्वारा रॉयल एशियाटिक सोसाईटी ऑफ बंगाल की स्थापना के साथ हुआ।

सर्वप्रथम अर्वाचीन ब्राह्मी लिपि को पढ़ने के प्रयास किये गए। इनको पढ़ने में विद्वानों को पुरानी देवनागरी लिपि से सहायता मिली। १७८५ ई० में चार्लेस विल्किन्स ने दीनाजपुर से प्राप्त नारायणपाल के **बादाल-स्तम्भ-अभिलेख** को पढ़ा। उसी वर्ष पं० राधाकान्त शर्मा ने विग्रहराज वीसलदेव के **टोपरा-दिल्ली-स्तम्भ-अभिलेख** को पढ़ा। उसी वर्ष जे. एच. हॅरिंग्टन ने मौखरी राजा अनन्तवर्मन् के **नागार्जुनी** और **बराबर-गुहालेखों** को पढ़ने का प्रयास किया, पर पूर्ण सफलता न मिली, क्योंकि इनकी लिपि अपेक्षतया प्राचीन थी। चार्लेस विल्किन्स ने इन्हीं अभिलेखों को १७८५ से १७८९ तक पढ़ने का प्रयास किया और गुप्त-लिपि के लगभग आधे अक्षरों को पढ़ने में सफलता प्राप्त की। कर्नल जेम्स टॉड ने १८१८ से १८२३ ई० के मध्य राजस्थान, गुजरात पौर मध्यभारत के ७वीं शती से १५वीं शती तक के अभिलेखों का संग्रह किया और यति ज्ञानचन्द्र की सहायता से उन्हें पढ़ने में आंशिक सफलता प्राप्त की। १८२८ में बैबिंग्टन द्वारा मामल्लपुरम् के संस्कृत और तमिल अभिलेखों के आधार पर तय्यार की गई वर्णतालिका परवर्ती ब्राह्मी लिपि को पढ़ने की ओर एक नया कदम था। १८३४ में कप्तान ट्रायर ने समुद्रगुप्त की **प्रयाग-प्रशस्ति** का एक अंश पढ़ डाला। डा. मिल्ल को इस अभिलेख को पढ़ने में अधिक सफलता मिली और १८३७ में उसने स्कन्दगुप्त के **भितरी-स्तम्भ-अभिलेख** को भी पढ़ डाला। जेम्स प्रिंसेप ने दिल्ली, कहोम, एरन, सांची, गिरनार और अमरावती के गुप्तकालीन अभिलेखों को पढ़ कर और अक्षरों की पूर्ण सूची तय्यार करके इस दिशा में एक अध्याय की समाप्ति कर डाली।

प्राचीन लिपि स्पष्टीकरण का दूसरा अध्याय अशोक के शिलालेखों की ब्राह्मी लिपि के पठन के प्रयास के साथ प्रारम्भ होता है। इसमें भी जेम्स प्रिंसेप की मुख्य भूमिका रही। १८३४-३५ में उसने प्रयाग आदि के अभिलेखों के प्रति-

चित्रणों को दिल्ली-स्तम्भ-अभिलेख से मिलाया। उसे पता चला कि ये एक ही अभिलेख के विभिन्न संस्करण हैं। इसके आधार पर उसने एक वर्णसूची तय्यार की। उसे यह भी मालूम हुआ कि गुप्तकालीन ब्राह्मी और अशोक अभिलेखों की ब्राह्मी में मात्राओं के सिद्धान्त समान हैं। उसने निरन्तर प्रयास से अशोक-कालीन ब्राह्मी वर्णों की जो सूची तय्यार की वह 'उ' और 'ओ' इन दो चिह्नों को छोड़ कर बिल्कुल शुद्ध पाई गई। उसे यह भी पता चल गया कि इनकी भाषा संस्कृत नहीं अपितु प्राकृत है। इसी समय फादर जेम्स स्टीवेन्सन ने भी अपने को इस कार्य में संलग्न किया, पर उसे पूर्ण सफलता न मिली। जेम्स प्रिंसेप ने १८३७ में सांची की वेदिका और द्वारा स्तम्भों के छोटे छोटे लेखों के प्रतिचित्रणों को एकत्रित करके प्रारम्भिक ब्राह्मी को पढ़ने का दूसरा प्रयत्न किया। इसमें उसे पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। ग्रियर्सन और बुह्लर का भी इस दिशा में विशेष सह-योग रहा। इस प्रकार ब्राह्मी वर्णों की एक पूर्ण और वैज्ञानिक सूची तय्यार हो गई।

खरोष्ठी लिपि के पठन में कर्नल टॉड, जेम्स प्रिंसेप, चार्ल्स मैसन, ई० नॉरिस, ए. कनिंघम आदि विद्वानों ने विशेष प्रयास किये। कर्नल टॉड ने शक, यवन, पह्लव और कुषाण शासकों के १७५ ई० पू० से २०० ई० तक के सिक्कोंका संग्रह करके उनका अध्ययन किया। अफ़ग़ानिस्तान में पुरातत्त्व सम्बन्धी शोध में व्यस्त चा० मैसन को पता चला कि सिक्कों के एक ओर यूनानी विरुद और दूसरी ओर खरोष्ठी विरुद समान हैं। इस जानकारी ने खरोष्ठी के पठन को सरल बना दिया। प्रिंसेप ने मैसन का अनुसरण किया। वह खरोष्ठी लिपि में यवन शासकों के १२ नामों और छः उपाधियों को पढ़ने में सफल हो गया। उसने लिपि की दिशा दाएँ से बाएँ निश्चित की। पहले उसका विचार था कि सिक्कों की भाषा पह्लवी है, पर १८३८ में उसे पता चल गया कि भाषा प्राकृत है। इससे उसका कार्य सुगम हो गया। उसने खरोष्ठी के १८ वर्ण निश्चित कर लिये। ई० नॉरिस और ए० कनिंघम ने शेष छः छः वर्णों को पढ़ लिया। इस प्रकार खरोष्ठी का पठन पूर्ण हो गया। इस अध्ययन की सहायता से खरोष्ठी के अन्य स्वतन्त्र अभिलेखों को पढ़ने में भी सफलता मिल गई।

सिन्धु-घाटी की लिपि का अध्ययन मेरिगी ने यह मान कर किया कि प्रत्येक स्वतन्त्र चिह्न एक भावचिह्न है। हण्टर और लैंग्डन ने इसे ब्राह्मी का प्राचीन-तर रूप मानकर इसका अध्ययन किया। जर्मन विद्वान् ह्रोज़नी ने अपने अध्ययनों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि हित्ती (Hittite) और सिन्धु-घाटी की लिपियां समान थीं और इसी आधार पर उसने इसे पढ़ने का प्रयास किया। परन्तु यह खेद की बात है कि कोई भी विद्वान् इसे अभी तक सन्तोषजनक रूप से पढ़ने में सफल नसीं हो सका है।

५—प्राचीन भारतीय अभिलेखों की भाषाएं

भारत में प्राप्त विदेशी भाषा के प्राचीनतम लेख वे हैं जो अरामई में लिखे गए हैं और लगभग तीसरी शती ईसापूर्व के हैं। वे भारत के उस उत्तरपश्चिमी भाग में मिले हैं जो अब पाकिसतान या अफ़ग़ानिस्तान के अन्तर्गत है। उत्तर-पश्चिमी भारत के यूनानी तथा अन्य विदेशी शासकों के सिक्कों के लेख यूनानी भाषा और लिपि में हैं। मौर्य सम्राट् अशोक (२७२-२३२ ई० पू०) का शर-इ-कुन्ना नामक एक द्विभाषी अभिलेख कन्धार के निकट मिला है, जो यूनानी और अरामई दोनों भाषाओं में है। कुछ विदेशी शासकों द्वारा अपनी भाषाओं में जारी किये सिक्के भी मिले हैं, उदाहरण के लिये रोमन सम्राटों के सिक्के। मोहनजोदड़ो से मिलने वाली प्रागैतिहासिक सीलों पर लिखे लेखों की भाषा का अभी तक कोई निश्चय नहीं हो पाया है।

प्राचीन भारतीय शासकों के लेख प्राकृत भाषा और ब्राह्मी तथा खरोष्ठी लिपियों में मिले हैं। प्रारम्भ में समस्त भारत में अभिलेखों में मुख्य रूप से प्राकृत का ही प्रयोग होता था। संस्कृत का प्रयोग सर्वप्रथम उत्तरभारत के अभिलेखों में प्रथम शताब्दी ईसापूर्व के उत्तरार्ध से दृष्टिगोचर होने लगता है। शनैः शनैः संस्कृत ने देश के सभी भागों में प्राकृत को निरस्त कर दिया। उत्तरभारत में यह प्रक्रिया तीसरी शताब्दी ईस्वी तक पूर्ण हो चुकी थी। इसके विपरीत दक्षिणी भारत में यह प्रक्रिया चतुर्थी शताब्दी के उत्तरार्ध तक पूरी हुई।

सम्राट् अशोक के स्तम्भलेख और शिलालेख प्राकृत भाषा में हैं, परन्तु उनमें स्थानभेद से भाषाभेद दृष्टिगोचर होता है। धौली, जौगढ और एरागुदी के अभिलेख मागधी प्राकृत में लिखे गये हैं। र् के स्थान पर ल्; श्, ष्, स् इन तीनों ऊष्म ध्वनियों के स्थान पर केवल स् और संयुक्त व्यञ्जनों के अप्रयोग की प्रवृत्ति इस प्राकृत की मुख्य विशेषताएं हैं। इसके विपरीत पश्चिमी और उत्तरपश्चिमी भाग में मिलने वाले गिरनार, सोपारा, मानसेहरा और शाहबाज़गढ़ी के अभि-लेखों में र् सुरक्षित है और कहीं कहीं तो ल् के स्थान पर भी र् मिलता है। उत्तरपश्चिम में स्थित मानसेहरा और शाहबाज़गढ़ी के अभिलेखों में संस्कृत की तरह संयुक्त व्यञ्जनों का प्रयोग मिलता है। इन अभिलेखों की भाषा अशोक के अन्य अभिलेखों की अपेक्षा संस्कृत के अधिक निकट है। कलसी के अभिलेखों और दक्षिण-भारत से प्राप्त क्षुद्र अभिलेखों की भाषा पर इन दोनों ही बोलियों का प्रभाव, थोड़ा या अधिक, स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

भारत-यूनानी काल के उत्तरपशिचमी भारत से मिलने वाले अभिलेखों की भाषा और उसकी विशेषता मानसेहरा और शाहवाज़गढ़ी से प्राप्त अशोक के अभिलेखों जैसी ही है। हेलियोदोरस के वेसनगर (विदिशा) अभिलेख पर

संस्कृत और साहित्यिक प्राकृत का विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उत्तर-पश्चिमी भारतवर्ष के शक-पार्थी और कुषाण शासकों के कुछ अभिलेखों में प्राकृत और संस्कृत का मिश्रित प्रयोग है। विदेशी शक शासकों के कुछ प्रारम्भिक अभिलेख तो संस्कृत में हैं। उदाहरणतया प्रथम शताब्दी ईस्वी के प्रथम चरण में शासन करने वाले शक शासक शोडास के समय मथुरा से मिले कुछ अभिलेखों में लौकिक संस्कृत के श्लोकों का प्रयोग हुआ है, जो शार्दूलविक्रीडित और भुजङ्गविजृम्भित जैसे वृत्तों में रचे गए हैं। रुद्रदामा का गिरनार-शिला-भिलेख (१५० ई०) तो साहित्यिक गद्यकाव्य का उत्तम उदाहरण है। ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत को सर्वप्रथम उत्तरपश्चिमी भारत के विदेशी शासकों का संरक्षण प्राप्त हुआ और वहां से इसकी लोकप्रियता शनैः शनैः भारत के अन्य भागों में फैल गई। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि ईसा की प्रथम दो शताब्दियों के शक शासकों के काल के अभिलेखों में जहां संस्कृत का प्रयोग कभीकभार होता था, वहां अगली दो शताब्दियों के शक शासकों के अभिलेखों और सिक्कों में संस्कृत का ही प्रयोग मिलता है, भले ही वह प्राकृत से प्रभावित और कहीं-कहीं मिश्रित भी हैं।[1]

विदेशी और स्वदेशी शासकों के राजदरबारों में संस्कृत को यह लोकप्रियता वैय्याकरणों के प्रभाव से प्राप्त हुई। इन वैय्याकरणों में पाणिनि (५वीं शती ईसापूर्व) का स्थान सबसे ऊचा है। कुछ ही समय के पश्चात् उसके व्याकरण-नियमों का उल्लंघन अक्षम्य समझा जाने लगा था। तथापि पुराने संस्कृत-अभिलेखो की भाषा से पता चलता है कि तीसरी शती ईस्वी तक भी उसके व्याकरण का प्रभाव मध्यभारत में पूर्णरूपेण स्थापित नहीं हुआ था, हालांकि पाणिनीय व्याकरण के भाष्यकार पतञ्जलि इसी प्रदेश के निवासी थे। इस बात की पुष्टि तत्कालीन अनेक अभिलेखों में मिलने वाले अपाणिनीय प्रयोगों से होती है।

पूर्वी भारत में आर्य वैशाखमित्र का कैल्वन (पटना) अभिलेख मिश्रित प्राकृत और संस्कृत में लिखा गया है, जबकि दूसरी और तीसरी शताब्दी ईस्वी के कौशाम्बी नरेशों के लेख प्राकृत से किञ्चत् प्रभावित संस्कृत में लिखे गए हैं। इसके विपरीत जगत्पुर (देहरादून) से प्राप्त शीलवर्मा (तीसरी शती ईस्वी का अन्तिम चरण) के इष्टका-लेख संस्कृत पद्य में लिखे गए हैं। गुप्तों के साथ ही संस्कृत भी सिंहासनारूढ दिखाई देती है। गुप्त सम्राट् संस्कृत के महान् आश्रय-दाता थे। उनके सभी लेखों में शुद्ध संस्कृत का प्रयोग हुआ है। वे पद्यात्मक और गद्यात्मक साहित्यिक शैली के उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति गद्य और पद्य का तथा चन्द्र का महरोली-अभिलेख पद्य का सुन्दर उदा-

---

१. Sircar, D. C., India1 Epigraphy, p. 41.

हरण हैं। दक्षिण भारत के अभिलेखों के अध्ययन से पता चलता है कि संस्कृत को अभिलेखों की भाषा के रूप में सिंहासनारूढ होने के लिये प्राकृत के साथ काफ़ी समय तक संघर्ष करना पड़ा और चौथी शताब्दी ई० के अन्त की ओर ही उसे यह पद प्राप्त हो सका।

अभिलेखों में क्षेत्रीय भाषाओं के प्रयोग का श्रीगणेश भी दक्षिण भारत से प्रारम्भ होता है। सर्वप्रथम तमिल भाषा का प्रयोग अभिलेखों में देखने को मिलता है। पल्लव नरेशों ने ८वीं और ९वीं शताब्दियों में तमिल का प्रयोग संस्कृत के साथ प्रारम्भ किया। दूसरी और तीसरी शताब्दी के कुछ प्राचीन लेख भी गुफाओं में मिले हैं। आन्ध्रप्रदेश में तेलुगु और कर्णाटक में कन्नड भाषा के अभिलेख छठी शताब्दी से लिखे जाने प्रारम्भ हो गए थे। दक्षिण की अपेक्षा उत्तर भारत में अभिलेखों में क्षेत्रीय भाषाओं का प्रयोग चिरकाल के पश्चात् प्रारम्भ हुआ। ११वीं शताब्दी तक उत्तरभारत में अभिलेख शुद्ध संस्कृत में उपलब्ध होते हैं। तत्पश्चात् ही स्थानीय भाषाओं का प्रयोग आरम्भ हुआ। बंगला और उड़िया भाषा का प्रयोग भी देखने को मिलता है, परन्तु सर्वाधिक अभिलेख मराठी भाषा में प्राप्त हुए हैं।

६—अभिलेखों का महत्त्व

पाश्चात्य विद्वानों का यह मत रहा है कि प्राचीन भारत में व्यवस्थित और क्रमबद्ध इतिहास लेखन की उपेक्षा भारतीयों की एक बहुत बड़ी कमी थी। इस कथन में बहुत कुछ सत्यता है। किन्तु कल्हण की **राजतरङ्गिणी** (११५० ई०), बिल्हण के **विक्रमाङ्कदेवचरित** (११वीं शताब्दी का अन्तिम भाग), बाण के **हर्षचरित** (७वीं शताब्दी पूर्वार्द्ध) आदि ग्रन्थों से पता चलता है कि प्राचीन भारत में भी राजाओं के चरितों और ऐतिहासिक वृत्तों को लेखनी-बद्ध करने की परम्परा रही होगी। स्वयं कल्हण को कम से कम १२ ऐतिहासिक ग्रन्थों का पता था, जिनमें से अब केवल एक के ही कुछ अंश प्राप्त हैं। इससे सिद्ध होता है कि बहुत से ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखे तो गए, परन्तु इस देश के उष्ण और आर्द्र जलवायु के कारण वे नष्ट हो गए। अत: १८वीं शताब्दी के अन्त और १९वीं शताब्दी में जब पाश्चात्य विद्वानों ने भारत के इतिहास-लेखन का बीड़ा उठाया तो उन्हें प्राचीन भारत के इतिहास पर प्रकाश डालने वाले ग्रन्थों के अभाव का खटकना स्वाभाविक ही था। यही कारण है कि उन्होंने प्राचीन अभिलेखों, सिक्कों, पत्थर और धातु की मूर्तियों, उत्खनन में मिलने वाली वस्तुओं और खण्डहरों आदि को ऐतिहासिक सामग्री के रूप में अपनाया। इनमें पत्थर और ताम्रपत्रों पर लिखे अभिलेखों का विशेष महत्त्व है। देवानां प्रिय प्रियदर्शी अशोक के अभिलेख (तीसरी शताब्दी ईसापूर्व), खारवेल का **हाथीगुम्फा-अभि-**

लेख (प्रथम शताब्दी ईसापूर्व), रुद्रदामा का **गिरनार-अभिलेख** (१५० ई०) समुद्रगुप्त का **प्रयाग-स्तम्भाभिलेख** (चौथी शताब्दी), पुलिकेशी-२ का **ऐहोल-अभिलेख** (६३४ ई०), आदि तो कुछ ऐसे अभिलेख हैं जिन्होंने प्राचीन भारतीय इतिहास का ढांचा खड़ा करने में विशेष सहायता प्रदान की। अनेक छोटे-बड़े शासकों के इतिहास का पुनर्निर्माण तो केवल अभिलेखीय सामग्री के आधार पर ही सम्भव हो सका है। उदाहरण के लिये १९वीं शताब्दी के प्रथम चरण से पूर्व बुद्धगुप्त नामक सम्राट् का भारतीय इतिहास में नाम तक उपलब्ध न था। इस महान् गुप्त-सम्राट् का इतिहास १८३८ में एरन से प्राप्त अभिलेख, १८९४ में मिले उसके चांदी के सिक्कों, १९१४-१५ में सारनाथ और बनारस से प्राप्त दो अभिलेखों, १९१९-२० में दामोदरपुर (दीनाजपुर) से प्राप्त दो ताम्रपत्र-अभिलेखों और १९४३ में नालन्दा से मिली मिट्टी की क्षतिग्रस्त सील के अध्ययन से प्रकाश में आया है। वस्तुतः प्राचीन भारतीय इतिहास, भूगोल आदि की प्रामाणिक जानकारी के लिये अभिलेख एक अमूल्य निधि हैं। इनका महत्त्व निम्न क्षेत्रों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है :—

(क) राजनैतिक इतिहास—अभिलेखों से प्राचीन भारत के राजनैतिक इतिहास पर पडने वाले प्रकाश के सम्बन्ध में हम निम्नलिखित बातो पर विचार कर सकते हैं :—

(१) **वंशावलियां**—अभिलेखों के परिशीलन से तत्सम्बन्धी राजाओं की वंशावलियों का पता चला है। सर्वप्रथम हमें रुद्रदामा के **गिरनार-अभिलेख** में रुद्रदामा के साथ उसके दादा चष्टन और पिता जयदामा के नामों की जानकारी प्राप्त हुई है। गुप्तकालीन अभिलेखों में वंशावलियों के वर्णन पर विशेष ध्यान दिया गया है। उदाहरण के लिये समुद्रगुप्त की **प्रयाग-प्रशस्ति** में उसके पर-दादा गुप्त, दादा घटोत्कच और पिता चन्द्रगुप्त के अतिरिक्त उसके नाना लिच्छवि और माता कुमारदेवी के नामों का भी उल्लेख है। इसी प्रकार स्कन्द-गुप्त के **भितरी-स्तम्भाभिलेख** में वंश के संस्थापक गुप्त से लेकर स्कन्दगुप्त तक सभी सम्राटों के नाम क्रमशः दिये हैं। चन्द्रगुप्त-१ से लेकर तो उनकी रानियों के नाम भी दिये गए हैं। श्रीहर्ष के **बांसखेड़ा-ताम्रपत्र** पर नरवर्द्धन से लेकर उसके सभी पूर्वजों के नाम उनकी रानियों के नामों सहित अंकित हैं। इस प्रकार की वंशावलियों से राजाओं के वंशानुक्रम और कालक्रम को निश्चित करने में बहुत सहायता मिली है।

(२) **विजयवर्णन**—अभिलेखों में राजाओं ने अपनी विजयों का वर्णन भी किया है। कुछ अभिलेख तो विजयस्मृति के रूप में ही लिखे गए प्रतीत होते हैं। चन्द्र का **महरौली-लोहस्तम्भ** एक विजय-स्तम्भ ही प्रतीत होता है। इस पर चन्द्र के दिग्विजय का वृतान्त मरणोपरान्त उसके उत्तराधिकारी द्वारा लिखवाया

गया प्रतीत होता है। समुद्रगुप्त की **प्रयाग-प्रशस्ति** में उसके दिग्विजय का विस्तृत वर्णन है। रुद्रदामा के **गिरनार-अभिलेख** में उसके द्वारा यौधेयों के उत्सादन और दक्षिणाधिपति शातकर्णि को दो बार विजित करके छोड़ देने का स्पष्ट उल्लेख है। चाहमान वंशी विग्रहराज वीसलदेव ने भी हिमालय और विन्ध्य के अन्तराल की अपनी विजय की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिये इसे टोपरा स्थित अशोक के प्रस्तर-स्तम्भ पर अंकित कराया था।

(३) **शासनप्रबन्ध**—अभिलेखों से उनमें वर्णित शासकों के शासनप्रबन्ध पर भी प्रकाश पड़ता है। मौर्य सम्राटों की शासनव्यवस्था का ज्ञान अशोक के अभिलेखों से होता है। गुप्त अभिलेखों में गुप्त सम्राटों की शासन-पद्धति की विशद जानकारी उपलब्ध होती है। उनका राज्य अनेक प्रान्तों में विभक्त होता था। प्रान्तीय शासक राष्ट्रिक, भोगिक, भोगपति, गोप्ता आदि अनेक नामों से पुकारे जाते थे। स्कन्दगुप्त के **गिरनार-अभिलेख** में प्रशासनिक अधिकारियों की एक लम्बी सूची मिलती है। दक्षिण भारत में नालूर और मेरूर नामक स्थानों से प्राप्त दो अभिलेखों से मध्ययुग के आरम्भ में वहां की ग्रामशासन-व्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है। मेरूर के अभिलेख से तो उस काल में प्रचलित प्रजातन्त्र शासन-पद्धति की पूरी जानकारी मिलती है। अशोक के अभिलेखों और समुद्रगुप्त की **प्रयागप्रशस्ति** से पता चलता है कि उत्तरपश्चिमी भारत में अनेक ऐसे राज्य थे जिनमें गणतन्त्रात्मक शासन-पद्धति प्रचलित थी। साम्राज्यवादी मौर्यों और गुप्तों ने उनको नष्ट करके अपने साम्राज्यों की स्थापना की। अभिलेखों से यह भी पता चलता है कि शासक शासनव्यवस्था के लिये प्रजा से कर वसूल करते थे। गुप्तकालीन और उसके पश्चात् के अभिलेखों से पता चलता है कि उपज का छठा भाग कर के रूप में लिया जाता था। कर वसूल करने वाला अधिकारी षष्ठाधिकृत आदि नामों से पुकारा जाता था। कर के अतिरिक्त चुंगी (विष्टि), बेगार (प्रणयक्रिया) आदि लेने के संकेत भी अभिलेखों में मिलते हैं।

(४) **व्यक्तिगत चरित्र**—शासकों के व्यक्तिगत चरित्र पर भी अभिलेखों के अध्ययन से विशेष प्रकाश पड़ता है। **प्रयाग-प्रशस्ति** में समुद्रगुप्त के गुणों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि धनद, वरुण, इन्द्र, यम सदृश वह अपने भुजबल से विजित अनेक राजाओं की सम्पत्ति लौटाने वाला, तीक्ष्ण एवं विदग्धमति, गान्धर्वविद्या आदि के द्वारा इन्द्र के गुरु बृहस्पति, तुम्बुरु, नारद आदि को लजाने वाला और विद्वज्जनों की उपजीव्य अनेक काव्य-क्रियाओं से प्रतिष्ठित कविराज शब्द वाला था। इसी प्रकार **महरौली लौहस्तम्भाभिलेख** और **ऐहोल अभिलेख** (६३४ ई०) से क्रमशः चन्द्र और पुलिकेशी-२ के व्यक्तिगत चरित्र पर प्रभूत प्रकाश पड़ता है। **गिरनार-शिलाभिलेख** (१५० ई०) से रुद्रदामा के

व्यक्तिगत चरित्र पर विशेष प्रकाश पड़ता है। ऐसे अभिलेखों की संख्या बहुत अधिक है।

(५) **सामाजिक अवस्था**—अभिलेखों में प्रसंगवश यत्र तत्र वर्णाश्रमधर्म का भी उल्लेख हुआ है। ब्राह्मण की चर्चा दान आदि के अवसर पर हुई है। अनेक लेखों में उनकी वैदिक शाखा, गोत्र आदि का भी उल्लेख हुआ है। षट्-कर्म के अतिरिक्त वे मध्यकाल में पुरोहित, मन्त्री और सेनापति आदि के कार्य भी करने लगे थे। सातवीं शती से लेकर शासनविषयक अभिलेखों में क्षत्रियों का उल्लेख मिलता है। राजनैतिक परिस्थितियों के कारण वे समाज में अग्रणी हो गये थे। उन्हें कुशल प्रशासक बनने की समुचित शिक्षा दी जाती थी। वैश्यों का उल्लेख गुप्तकाल के उत्तरवर्ती अभिलेखों में कृषि, पशुपालन, व्यापार आदि के प्रसंग मे आता है। अशोक के अभिलेखों से पता चलता है कि उसने शूद्रों से समुचित व्यवहार करने का आदेश दिया था। अभिलेखों मे कायस्थ, चाण्डाल आदि जातियों का भी उल्लेख हुआ है। आश्रम-व्यवस्था के भी संकेत मिलते हैं। राजा लोग एक से अधिक विवाह कर सकते थे। सती-प्रथा के प्रचलन का भी संकेत उपलब्ध है। मनोरञ्जन के साधनों में मृगया, संगीत, द्यूत-क्रीडा आदि का उल्लेख है। कुषाण और शक शासकों के अभिलेखों से पता चलता है कि उन्होंने हिन्दु धर्म, संस्कृति और भाषा से प्रभावित होकर हिन्दु नामों और रीति-रिवाजों को स्वीकार कर लिया था। उन्होंने यहां के शासकों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित किये।

(६) **आर्थिक अवस्था**—दानपत्रों के विवरणों से सुदृढ आर्थिक स्थिति का पता चलता है। प्रशस्तियों में सभी प्रकार के अन्नों तथा फलों का उल्लेख मिलता है। **नालन्दा-ताम्रपत्र** के **सम्यग् बहुघृतबहुदधिभिर्व्यञ्जनैर्युक्तमन्नम्** इस वचन से भोजन के उच्च स्तर का पता चलता है। कृषि की सिंचाई के लिये झील, तालाब, नहर आदि के निर्माण के उल्लेख अभिलेखों में उपलब्ध हैं। रुद्रदामा और स्कन्दगुप्त के गिरनार स्थित अभिलेखों से पता चलता है कि मौर्य चन्द्रगुप्त द्वारा निर्मित, अशोक द्वारा प्रणाली आदि की व्यवस्था से सम्पन्न सुदर्शन नामक तालाब का रुद्रदामा और स्कन्दगुप्त द्वारा पुनः-संस्कार कराया गया था। सातवाहन नरेश पुलुमावि द्वारा सिंचाई के लिये तालाब बनवाने का उल्लेख उसके लेखों में है। गुप्तसम्राटों के अभिलेखों से पता चलता है कि उन्होंने सिंचाई के लिये नहरें बनवाने की ओर विशेष ध्यान दिया। व्यापार के क्षेत्र में निगमों और श्रेणियों का उल्लेख अभिलेखों में मिलता है। कुमारगुप्त के मन्दसौर स्थित **पट्टवायश्रेणी-अभिलेख** में श्रेणी द्वारा सूर्यमन्दिर के निर्माण और उसके पुनरुद्धार का वर्णन है। उनके द्वारा बुने रेशम की देश-विदेश में सर्वत्र धूम थी। अभिलेखों में श्रेणियों या निगमों द्वारा बैंक-कार्य का भी संकेत मिलता है।

(७) **धार्मिक स्थिति और सहिष्णुता**—अभिलेखों से विभिन्न कालों में धार्मिक स्थिति का विशद विवरण प्राप्त होता है। अशोक के अभिलेखों से विदित होता है कि उसके काल में बौद्ध धर्म का विशेष प्रचार था और वह स्वयं इस धर्म के सिद्धान्तों से प्रभावित था। उदयगिरि के गुहालेखों से उड़ीसा में जैनमत के प्रचार का पता चलता है। चन्देला राज्य के मुख्य नगर खजुराहो के लेख और प्रतिमाओं से भी वहां जैनमत के प्रचार का पता चलता है। गुप्तकालीन अभिलेखों से विदित होता है कि गुप्तसम्राट् वैष्णव धर्म के अनुयायी थे और उस काल में भागवत धर्म का प्राधान्य था। विभिन्न अभिलेखों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि विभिन्न कालों में विविध स्थानों पर सूर्य, शिव, शक्ति, गणेश आदि की पूजा होती थी। इसके अतिरिक्त यज्ञ, दान, मन्दिर-निर्माण, मन्दिरजीर्णोद्धार, प्रतिमास्थापन, देवपूजन, उत्सव, व्रत, तीर्थयात्रा आदि का वर्णन भी अभिलेखों में मिलता है। अभिलेखों के अध्ययन से धार्मिक सहिष्णुता और साम्प्रदायिक सद्भाव का पूर्ण परिचय मिलता है। अशोक ने अपने १२वें शिलाभिलेख में आदेश दिया है कि सब मनुष्य एक दूसरे के धर्म को सुनें और सेवन करें (**अवमअस घमो श्रुणेयु च सुश्रुषेयु च ति**)। सातवाहनों के अभिलेखों में वैदिक यज्ञों के साथ बौद्धसंघ को गुहादान का भी उल्लेख है। गुप्तसम्राट् भागवतधर्मानुयायी होकर भी शैव, जैन आदि मतावलम्बियों को उच्चपदों पर नियुक्त करते थे। पालवंशी राजा बौद्ध धर्मावलम्बी होकर भी ब्राह्मणों को दान देते थे और मन्दिरों का निर्माण करते थे। किसी भी अभिलेख में ऐसा उदाहरण नहीं मिलता जिससे किसी प्रकार के साम्प्रदायिक विद्वेष का पता चलता हो।

(ख) **भूगोल**—प्राचीन भारतीय भूगोल की जानकारी के लिये भी अभिलेखीय सामग्री का विशेष महत्त्व है। अभिलेखों से राजाओं के राज्यविस्तारों, सीमाओं, विजयाभियानों और यात्रामार्गों का पता चलता है। विभिन्न नगरों, पर्वतों और नदियों आदि की स्थिति का भी ज्ञान होता है। अशोक के १३वें शिलाभिलेख से पता चलता है कि उसके साम्राज्य की सीमाओं से परे छः सौ योजन तक अन्तियोक नामक राजा का शासन था। उससे परे तुरमाय, अन्तेकिन, मका और अलिकसुन्दर नामक चार विदेशी राजाओं के राज्य थे। नीचे (दक्षिण में) चोल, पाण्ड्य आदि राज्य थे। यवन, कम्बोज, नाभक, नाभपंति, भोज, पैत्रवणिक, आन्ध्र और पुलिन्द जनपद उसके अपने ही साम्राज्य के अन्तर्गत थे। पूर्व में धौली से लेकर उत्तर-पश्चिम में पेशावर और कन्धार तक मिले उसके अभिलेख स्वयं अपनी स्थिति से उसके राज्यविस्तार की सूचना दे रहे हैं। रुद्रदामा के **गिरनार शिलाभिलेख** (१५० ई०) में उसके राज्य के अन्तर्गत १२ प्रदेशों के नामों का उल्लेख है। अभिलेखों से दो राज्यों और जनपदों की सीमाओं को निर्धारित करने में भी सहायता मिलती है। अशोक का कन्धार से प्राप्त **शर-इ-कुन्ना**

अभिलेख यूनानी और अरामई दोनों भाषाओं में है। डा० दिनेशचन्द्र सरकार आदि विद्वानों का मत है कि इस अभिलेख में यूनानी भाषा का संस्करण यवनों के लिए और अरामई भाषा का संस्करण कम्बोजों के लिये था। यवनों और कम्बोजों के जनपद इस स्थान से क्रमश: दक्षिण और उत्तर की ओर थे, और यह अभिलेख उनकी सीमाओं पर स्थापित कराया गया होगा। अभिलेखों से राजाओं की विजययात्राओं के मार्गों पर भी प्रकाश पड़ता है। समुद्रगुप्त के **प्रयाग-स्तम्भाभिलेख** और चन्द्र के **महरौली-लौहस्तम्भाभिलेख** से उन सम्राटों की विजययात्राओं के मार्ग पर प्रकाश पड़ता है। अभिलेखों में अनेक नगरों और राजाओं की राजधानियों का उल्लेख है। कई अभिलेखों में तो नगरों के वैभव का भी विशद वर्णन मिलता है। उदाहरण के लिये दशपुर के **पट्टवायश्रेणी-अभिलेख** में दशपुर का सुन्दर वर्णन हुआ है।

(ग) **साहित्यिक महत्त्व**—अभिलेखों का विशेष साहित्यिक महत्त्व है। इनसे संस्कृत और प्राकृत भाषाओं की गद्य, पद्य आदि काव्य विधाओं के विकास पर प्रकाश पड़ता है। मैक्समूलर का विचार था कि ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियां संस्कृत साहित्य का अंधकार युग था। किन्तु रुद्रदामा के **गिरनार-अभिलेख** (१५० ई०) के प्रकाश में आने से अब यह भ्रान्ति दूर हो गई है। यह अभिलेख संस्कृत गद्य के अत्युत्तम उदाहरणों में से एक है। इसमें न केवल अलंकार, रीति आदि गद्य के सौन्दर्यविधायक सभी गुणों का प्रयोग किया गया है, अपितु रुद्रदामा के लिये **स्फुटलघुमधुरचित्रकान्तशब्दसमयोदारालंकृतगद्यपद्यकाव्यविधानप्रवीणेन** विशेषण का प्रयोग करके इस बात की भी सूचना दी है कि उस काल में संस्कृतकाव्य सौन्दर्यविधायक उन सभी धर्मों से युक्त था जिनका लक्षण तत्पश्चात् दण्डी ने अपने **काव्यप्रकाश** में दिया है। समुद्रगुप्त की **प्रयाग-प्रशस्ति** भी गद्य-पद्यमय चम्पू-काव्य का एक अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करती है। मन्दसौर का **पट्टवायश्रेणी-अभिलेख**, यशोधर्म-कालीन **कूपशिलाभिलेख**, पुलिकेशी-२ का **ऐहोलशिलाभिलेख** आदि अनेक अभिलेख पद्य-काव्य के उत्तम उदाहरण हैं। इन अभिलेखों से हरिषेण, वत्सभट्टि, रविकीर्त्ति आदि ऐसे अनेक कवियों के नाम प्रकाश में आ गए हैं जिनका संस्कृत-साहित्य में अन्यत्र नाम तक उपलब्ध नहीं है। चाहमान वंशी विग्रहराज के काल का सोमदेवरचित **ललितविग्रह-नाटक** और विग्रहराजकृत **हरकेलि-नाटक** प्रस्तरशिला पर अंकित नाट्यसाहित्य के सुन्दर उदाहरण हैं।

७—भारतीय अभिलेखों के दोष

प्राचीन भारत में अभिलेख वस्तुत: शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं लिखे गए। उनमें ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख आकस्मिक ही माना जाना चाहिये। लेखों में सीमित स्थान के कारण घटनाओं का उल्लेखमात्र ही हो पाता है। विस्तृत

सूचना का इनमें अभाव ही रहता है। आरम्भ में जब अभिलेखों में तिथि अंकित न करने अथवा शासन-वर्ष के अनुसार तिथ्यङ्कन का प्रचलन था तो तात्कालिक घटनाओं के काल निश्चित करने में बहुत कठिनाई का सामना करना पड़ता है। परन्तु कालान्तर में विक्रम, शक, गुप्त आदि नियमित संवतों का प्रचलन हो गया। तात्कालिक अभिलेख इस दोष से मुक्त हैं।

भारतीय अभिलेखों का मुख्य दोष उनका अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है। प्रशस्तिकार, जो प्राय: राजा के सेवक होते थे, अपने आश्रयदाता के अतिशयोक्तिपूर्ण गुणगान करने को विवश होते थे और शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टिकोण नहीं अपनाते थे। वे अपने स्वामियों की पराजयों और असफलताओं की भी उपेक्षा कर देते थे। अधीनस्थ राजा या सामन्त अपनी प्रशस्तियां इस प्रकार लिखवाते थे, जिससे उनके स्वतन्त्र या अधीन होने के दोनों प्रकार के अर्थ ग्रहण किये जा सकते थे।

पूर्व मध्ययुगीन राजवंशों के अभिलेखों में काल्पनिक वंशावलियों का प्रयोग भी देखने को मिलता है। तात्कालिक अनेक राजवंशों ने अपनी वंशावलियों को पौराणिक महापुरुषों और राजाओं से सम्बन्धित कर लिया था। इस युग के राजाओं में अपने को सूर्यवंश या चन्द्रवंश के साथ जोड़ लेने की एक प्रथा सी चल पड़ी थी। अत: इस काल के अभिलेख पूर्णतया विश्वसनीय नहीं हैं। प्राचीनकाल के अभिलेख इस दृष्टि से अधिक विश्वसनीय हैं।

इन सब दोषों के होते हुए भी अभिलेखों का यह मुख्य गुण है कि उनमें पाठ-भेद का सर्वथा अभाव रहता है और प्रक्षेप की सम्भावना शून्य के बराबर रहती है। अभिलेखीय सामग्री से परम्परागत साहित्यिक सामग्री की पुष्टि होती है। जहां दोनों में विरोध दिखाई पड़े वहां अभिलेखीय सामग्री को ही महत्त्व दिया जाना चाहिये। समसामयिक घटनाओं का वर्णन करने के कारण अभिलेखीय सामग्री अधिक विश्वसनीय होती है।

८—प्राचीन भारतीय अभिलेखों में प्रयुक्त संवत्

भारत एक विशाल देश है। प्राचीनकाल से ही इसके विभिन्न भागों में विभिन्न कालगणनाओं और संवतों का प्रयोग होता रहा है। प्राचीनतम और कुछ उत्तरकालीन अभिलेखों में राजाओं ने अपने शासनकाल के उस वर्ष का उल्लेख किया है जिसमें वह अभिलेख लिखा गया। सम्राट् अशोक (२७२-२३२ ई०पू०) का शिलालेख-३, भागभद्रकालीन बेसनगर-अभिलेख (ईसापूर्व द्वितीयशती का अन्तिमचरण), खारवेल का हाथी-गुम्फा अभिलेख (ईसापूर्व प्रथम शती के अन्त के निकट), गौतमीपुत्र शातकर्णि (१०६-१३० ई०) का नासिक-अभिलेख और एहुबुल शान्तमूल (२८०-३३५ ई०) का नागार्जुन कोंडा-अभिलेख इसके उदाहरण हैं। ईस्वी सन् के प्रारम्भ के लगभग से विविध संवतों का प्रयोग कुछ अभिलेखों में दिखाई

देने लगता है। प्राचीनतम शासकों के अभिलेखों में प्राप्त शासन-वर्ष के प्रयोग से पता चलता है कि प्राचीन भारत में कोई लोकप्रिय सम्वत् प्रचलित नहीं था। तथापि कुछ ऐसे सम्वत् हैं जिनका प्रारम्भ ४०० ई० पू० से पूर्व माना जाता है। कलियुग-सम्वत् ३१०२ ई० पू० में प्रारम्भ माना जाता है और हर्ष-सम्वत्, जिसका उल्लेख अल्बेरूनी ने भी किया है, ४५७ ई० पू० में प्रारम्भ हुआ था। इनके अतिरिक्त बुद्ध और महावीर के परिनिर्वाण संवत् भी प्रचलित थे। अनेक आधुनिक इतिहासकार इन संवतों की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करते। उनका मत है कि ३१०२ ई० पू० में प्रारम्भ होने वाला कलियुग-सम्वत् कोई ऐतिहासिक सम्वत् नहीं है। इसे भारतीय ज्योयिषयों ने अपनी कालगणना की सुविधा के लिये ३५०० वर्ष बाद प्रारम्भ किया था। हर्ष-संवत् का भी अभिलेखों और साहित्यिक कृतियों में कोई उल्लेख नहीं है। सम्भवत: इसे भी ज्योतिषियों ने कालगणना की सुविधा के लिये विक्रम-सम्वत् से पूरे ४०० वर्ष पूर्व प्रारम्भ माना है। बुद्ध-परिनिर्वाण संवत् भी बहुत विश्वसनीय नहीं है। पहली बात तो यह है कि बुद्ध के परिनिर्वाण की तिथि ही निश्चित नहीं है। श्रीलंका, जापान, तिब्बत, चीन आदि देशों की परम्पराओं के अनुसार परिनिर्वाण काल भिन्न-भिन्न हैं, जिनमें कई कई सौ वर्षों तक का अन्तर है। अब केवल ४८६ ई० पू० को ही अधिक मान्यता प्राप्त है। दूसरे जहां भी बुद्ध-परिनिर्वाण सम्वत् का प्रयोग हुआ है, वहां विशेष वर्ष का उल्लेख न करके शताब्दियों का उल्लेख किया है। उदाहरण के लिये मिलिन्दपञ्ह में मिलिन्द (Menander) की मृत्यु के विषय में कहा गया है कि यह घटना परिनिर्वाण के पांच सौ वर्ष बीत जाने पर घटी। (परिनिब्बाणतो पञ्च-वस्स-सते अतिक्कंते)। तीसरी बात यह कि यह सम्वत् बौद्धों तक ही सीमित था। इसे लोकप्रियता प्राप्त नहीं हुई। महावीर-परिनिर्वाण सम्वत् प्राय: ५२७ ईसा पूर्व से प्रारम्भ माना जाता है, परन्तु इसकी स्थिति भी बुद्ध-परिनिर्वाण-संवत् से अच्छी नहीं है।

नियमित सम्वत् का प्रयोग हमें सर्वप्रथम उत्तरपश्चिमी भारत के विदेशी शासकों के सिक्कों और अभिलेखों में प्रयुक्त मिलता है। इससे विदित होता है कि भारत में किसी नियमित सम्वत् को प्रारम्भ करने और उसे लोकप्रिय बनाने का श्रेय शक-पार्थी और कुषाण जैसी विदेशी मूल की जातियों के शासकों को जाता है। जब किसी शासकवंश को प्रारम्भ करने वाले राजा द्वारा अपने सिंहासनारूढ होने के समय प्रारम्भ की गई काल-गणना उसके वंशज राजाओं द्वारा भी जारी रखी गई, तो समय बीतने पर उसी शासनकाल-गणना (regnal reckoning) ने नियमित संवत् का रूप ले लिया। सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् सेल्यूकस ने सिकन्दर द्वारा विजित पश्चिमी एशिया में सीरियाई साम्राज्य पर अधिकार करके ३१२ ई० पू० में एक सम्वत् जारी किया। तीसरी शताब्दी ईसापूर्व के मध्य में

बख्त्र और पार्थिपा इस साम्राज्य से स्वतन्त्र हो गए और पार्थियों ने साम्राज्य के पूर्वी भागों को जीतकर २४८ ईसापूर्व में एक नए संवत् की स्थापना की। यह एक रोचक तथ्य है, कि उत्तर-पश्चिमी भारत में मिले बहुत से लेखों की तिथि इस पार्थी सम्वत् के अनुसार है। शक-पार्थी लोग भारत में प्रवेश करने से पुर्व कुछ समय यूनानी साम्राज्य के पूर्वी भागों में रह चुके थे और उपर्युक्त दोनों सम्वतों से परिचित थे। यही कारण है कि उत्तरपश्चिमी भारत के शक-पार्थी शासकों के लेखों पर नियमित सम्वत् प्राप्त होता है। शोडास कालीन **मथुरा-अभिलेख** में उल्लिखित संवत् ७२ और मोग कालीन **तक्षशिला-अभिलेख** मे उल्लिखित संवत् ७८ इसी संवत् के वर्ष है। यह संवत् पार्थी शासक वोनोनस द्वारा राजाधिराज उपाधि ग्रहण करने के समय प्रारम्भ कालगणना के साथ आरम्भ हुआ प्रतीत होता है।

शक-पार्थी कालगणना की स्थापना के थोड़े ही समय पश्चात् एक अन्य कालगणना का श्रीगणेश विदेशी मूल के शासक कुषाणवंशी कनिष्क के द्वारा अपने शासनकाल के वर्षों की गणना के साथ आरम्भ हुआ और तत्पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों के द्वारा निरन्तर प्रयुक्त होने के कारण एक नियमित सम्वत् के रूप में आ गया। यह कनिष्क-सम्वत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह सम्वत् शक-पार्थियों और प्रारम्भिक कुषाणों द्वारा प्रयुक्य शक-पार्थी सम्वत् का स्थान ग्रहण करने के लिये जारी किया गया प्रतीत होता है। जहां शक-पार्थी सम्वत् का प्राचीनतम प्राप्त अभिलेख संवत् ७२ का है, वहां कनिष्क-संवत् का प्राप्त प्राचीनतम लेख **सारनाथ-अभिलेख** है, जो कि कनिष्क के शासन के तीसरे वर्ष का है।

भारत-वर्ष के विभिन्न भागों में प्रचलित और सर्वाधिक समादृत संवत् **विक्रम-संवत्** और **शक-संवत्** हैं। इनका प्रारम्भ क्रमश: ५७-ईसापूर्व और ७८ ईस्वी में हुआ। इन दोनों सम्वतों के प्रारम्भ का इतिहास भारत में शक जाति की गतिविधियों से सम्बन्धित है।

शकों के भारत में प्रवेश और राज्य-स्थापना का वर्णन **प्रभावक-चरित** नामक जैनग्रन्थ में 'कालकाचार्य-कथा' में बड़े रोचक ढंग से दिया गया है। उसके अनुसार आचार्य कालक, जिसकी बहिन को उज्जयिनी के गर्दभिल राजा ने बलात् अपने घर में डाल लिया था, सग-कुल (शकस्थान) जाकर शकों को हिन्दुगदेश (भारत) में लाया। ९५ साहियों ने सिन्धु नदी पर नावों का पुल बांधकर सुरट्ठ (सौराष्ट्र) में प्रवेश किया। उन्होंने सर्वप्रथम अपनी शक्ति को सौराष्ट्र में संगठित किया। फिर पाञ्चाल (पञ्चनद प्रदेश) और लाट को विजित करके वे मालव की सीमाओं तक पहुंच गए। उनमें से एक साहि उनका अधिपति बना और उज्जयिनी को राजधानी बनाकर शासन करने लगा। इसकी पुष्टि संस्कृत की अनुश्रुति से भी होती है। स्टेनकोनो और वी० स्मिथ ने भी इस कथा को

ऐतिहासिकता को स्वीकार किया है। उज्जयिनी की तात्कालिक ऐतिहासिक स्थिति भी इस कथा में वर्णित स्थिति से मेल खाती है।

शकों द्वारा उज्जयिनी पर अधिकार ६१ अथवा ६० ईसापूर्व में किया गया होगा, क्योंकि एक जैन परम्परा के अनुसार शकों ने वहां केवल चार वर्ष राज्य किया, और फिर ५७ ईसापूर्व में विक्रमादित्य ने इन शकों को पराजित करके उज्जयिनी पर अधिकार कर लिया। उसने **मालव-सम्वत्** नाम से एक नए सम्वत् की स्थापना को जो कालान्तर में **विक्रम-सम्वत्** कहलाया। कालकाचार्य-कथा (श्लोक ६१-६२), जैन पत्तावलियों और जैन हरिवंश से भी इस कालक्रम की पुष्टि होती है। मेरुतुङ्गाचार्य ने अपने ग्रन्थ **विचारश्रेणी** में भविष्यवाणी की है कि महावीर के निर्वाण (५२७ ईसापूर्व) से ४७० वर्ष पश्चात् विक्रमादित्य शकों का संहार करके मालव का राजा बनेगा।[१] इस घटना से १३५ वर्ष के पश्चात् (अर्थात् ७८ ई० में) शकों ने उज्जयिनी पर पुनः आक्रमण किया और विक्रमादित्य के वंश को समाप्त करके शकसम्वत् की स्थापना की।[२] जिनप्रभसूरि के ग्रंथ **कल्पप्रदीप** (१३०० ई०) का कथन है कि सातवाहन हाल (शालिवाहन) ने यह सम्वत् विक्रमादित्य को हराकर प्रतिष्ठान (पैठन) का राजा बनने पर प्रारम्भ किया। इसके विपरीत **मुहूर्त्तमार्तण्ड** आदि ग्रन्थों के अनुसार इस सम्वत् का प्रारम्भ शालिवाहन के जन्म के साथ हुआ।

डा० दिनेशचन्द्र सरकार आदि आधुनिक विद्वानों का एक वर्ग, जो कि प्राचीन भारतीय परम्पराओं को बहुत विश्वसनीय नहीं मानता और अपनी मान्यताओं को मुख्य रूप से अभिलेखीय तथ्यों पर ही आधारित करता है, विक्रम और शक सम्वतों की पारम्परिक ऐतिहासिकता को स्वीकार नहीं करता। उनका मत है कि प्राचीन शक-पार्थी सम्वत् और कनिष्क-सम्वत् ही कालान्तर में क्रमशः **विक्रम-सम्वत्** और **शक-सम्वत्** के नाम से प्रसिद्ध हुए। वे अपने मत की पुष्टि में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं।

वह सम्वत् जो अब **विक्रम-सम्वत्** के नाम से जाना जाता है, भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न भिन्न नामों से पुकारा जाता रहा है। इसका प्राचीनतम नाम कृत सम्वत् मिलता है। शक्तिगणगुरु के **नन्दसा-अभिलेख** (सं० २८२), मौखरियों के **बडवा-अभिलेख** (सं० २९५), विष्णुवर्धन के **विजयगढ़-अभिलेख** (सं० ४२८), नरवर्मन् के **मन्दसौर-अभिलेख** (सं० ४६१), विश्ववर्मन् के **गन्धार-अभिलेख**

---

१. कालंतरेण केणवि उप्पाडिता सगाणा तं वंसं।
होही मालवराया नामेण विक्कमाइच्चो ॥
—**पत्तावलिसमुच्चय** Part I, Appendix C., p. 199 पर उद्धृत.

२. **प्रभावकचरित**, कालकाचार्यकथा, श्लो० ९२.

(सं० ४८०) और वैश्यों के **नगरी-अभिलेख** (सं० ४८१) में कृत शब्द का प्रयोग हुआ है। अन्तिम अभिलेख में **अस्यां मालव-पूर्वायां** शब्दों का भी साथ ही प्रयोग है। इसी प्रकार सं० ४६१ के नरवर्मन् के अभिलेख में **प्रशस्ते कृतसंज्ञिते** के साथ **श्रीमालवगणाम्नाते** विशेषण का प्रयोग भी मिलता है। कुमारगुप्त और बन्धुवर्मन् के **मन्दसौर-अभिलेख** (सं०४९३), प्रभाकर कालीन **मन्दसौर-अभिलेख** (सं० ५२४), और यशोधर्मन् के **मन्दसौर-अभिलेख**(सं० ५८९)में सम्वत् का सम्बन्ध मालवगण के साथ स्थापित किया गया है। शिवगण के **कनसवा-अभिलेख** (सं० ७९५) में वर्षगणना के साथ **मालवेशानां** शब्द का प्रयोग हुआ है। जैकदेव के **धिनिकि-अभिलेख** (सं० ७९४), चण्डमहासेन के **धोलपुर-अभिलेख** (सं० ८९८), धवल के **बीजापुर-अभिलेख** (सं० ९७३) और उसके बाद के प्राय: सभी अभिलेखों में उल्लिखित सम्वत् विक्रम या विक्रमादित्य के नाम से सम्बद्ध है। इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीनतम अभिलेखों में कृत नाम का प्रयोग हुआ है। तत्पश्चात् यह सम्वत् मालवगण और मालव सम्राटों से सम्बद्ध हुआ, और अन्त में इसे विक्रम या विक्रमादित्य का सम्वत् कहा जाने लगा।

सिकन्दर के आक्रमण के समय मालवगण ज़िला झंग, पंजाब में रावी नदी पर निवास करता था। प्रथम शताब्दी ईसापूर्व में इस क्षेत्र पर शक-पार्थियों का अधिकार हो गया जो प्रथम शताब्दी ईस्वी तक चलता रहा। विदेशी दबाव के कारण मालव राजस्थान की ओर सरक गए। वहां उनकी स्थिति शक उसवदात (ऋषभदत्त) (११९-१२३ ई०) के अभिलेख और नगर (प्राचीन मालवनगर) से प्राप्त हज़ारों सिक्कों से, जिन पर **मालवानां जयः** अंकित है, प्रमाणित होती है। कालान्तर में मालव आकर और अवन्ति में बस गए और वह प्रान्त ७वीं शती ईस्वी तक मालव नाम से प्रसिद्ध हो गया। ऐसा अनुमान है कि चौथी शताब्दी ईस्वी तक गुप्तों ने मालव को अपने अधीन कर लिया होगा, और वह औलिकर वंश जो गुप्तों के अधीन मालव में प्रान्तीय शासन चलाता था और **गुप्त-सम्वत्** का प्रयोग न करके **कृत-सम्वत्** का प्रयोग करता था, कोई मालव वंश होगा। ऐसा विदित होता है कि मालव लोग कृत कहे जाने वाले इस **शक-पार्थो-सम्वत्** को अपने मूल निवास-स्थान पंजाब से राजस्थान और मालव में लाए। मालव-गण और मालव-देश में प्रचलित होने के कारण इसका नाम **मालव-सम्वत्** पड़ गया। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (३७६-४१३ ई०) ने समस्त मालव देश को जीत कर गुप्त साम्राज्य में मिला लिया था और चौथी शताब्दी ईस्वी के अन्त के लगभग शकों को पश्चिमी भारत से बाहर निकालकर विक्रमादित्य शकारि की उपाधि धारण की थी। इस समय से लेकर उज्जयिनी गुप्त-साम्राज्य की दूसरी राजधानी बन गई। वास्तव में उज्जयिनी का यही राजा विक्रमादित्य शकारि है, जिसका नाम इस सम्वत् के साथ जुड़ गया है। कालान्तर में लोगों में ऐसी धारणा बन गई

कि इस सम्वत् की स्थापना मालवगण की सहायता से शकों को परास्त करके विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने वाले किसी प्राचीन राजा के द्वारा की गई है। वस्तुत: चौथी शती ईस्वी से पूर्व किसी विक्रमादित्य की विद्यमानता और ८वीं शती ईस्वी से पूर्व इस सम्वत् के विक्रमादित्य के साथ सम्बन्धित होने का कोई अभिलेखीय प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

तीसरी शती ईस्वी के अन्तिम चरण से लेकर पांचवी शती ईस्वी के अन्त तक के अभिलेखों में इस सम्वत् को कृत-सम्वत् कहा गया है। इस कृत नाम की विद्वानों ने भिन्न भिन्न व्याख्याएं की हैं। कुछ के अनुसार कृत का अर्थ '(ज्योतिषियों द्वारा) बनाया गया' है। पेन्त्सर का मत है कि कृत इस सम्वत् के संस्थापक का नाम था। कुछ का विचार है कि यह नाम मालवों के किसी कृत नामक गण-मुख्य के नाम पर पड़ा। अन्य का विचार है कि परम्परा से कृत (=सत्य) युग से आने के कारण यह कृत-सम्वत् कहलाया। कुछ विद्वान् कृत का सम्बन्ध क्रीत 'खरीदा हुआ' से जोड़ते हैं। कतिपय प्राचीन लेखों में क्रित शब्द उपलब्ध भी है। अपने इस मत को वे एक बौद्ध-परम्परा पर आधारित करते हैं जिसका उल्लेख युवान्-च्वांग ने किया है। सम्भवत: यह परम्परा उन विदेशी शक-पार्थी लोगों की ओर संकेत करती है, जिन्होंने प्रथम शती ईसापूर्व में अपनी काल-गणना की स्थापना की थी। उन्हीं के द्वारा प्रारम्भ यह सम्वत् कालान्तर का **विक्रम-सम्वत्** है। उन्हीं के निन्दासूचक 'क्रीत' नाम पर इसका नाम कुछ समय तक क्रित या कृत चलता रहा। **विक्रम-सम्वत्** और **शक-पार्थी-सम्वत्** के एक होने की पुष्टि पार्थी शासक गोंडोफ़ार्नेस के **तख्त-इ-बाही-अभिलेख** पर अंकित वर्ष १०३ से भी होती है। यह सम्वत् सर्वप्रथम वोनोनस के शक सामन्तों द्वारा सिन्ध और सीमावर्ती क्षेत्रों में प्रचलित किया गया। मालव इसे अपने साथ पंजाब से राजस्थान और मध्य भारत में ले गए। मौखरि वंश के शासक, जो पहले मालवों के अधीन थे और सम्भवत: उसी वंश-परम्परा से थे, इसे अपने आदि निवास राजस्थान से पूर्व की ओर उत्तरप्रदेश और बिहार तक ले गए। उज्जयिनी की ज्योतिष-शाखा का भी इस सम्वत् के प्रचार-प्रसार में विशेष योगदान रहा।

उपर्युक्त मत, जिसमें विक्रम-सम्वत् की शक-पार्थी-सम्वत् के साथ समता स्थापित करने का प्रयास किया गया है, भारतीय परम्परा में विश्वास रखने वाले विद्वानों को स्वीकार नहीं है। इसके विरुद्ध सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि विक्रम और शक-पार्थी सम्वतों में तिथियां और मास देने की पद्धतियां एक नहीं हैं। डा० राजबली पाण्डेय ने विक्रम-सम्वत् के साथ जुड़े कृत और मालव नामों की व्याख्या इस प्रकार की है। मालव-गण के मुखिया विक्रमादित्य ने शकों को परास्त करके इस सम्वत् की स्थापना की थी। गणतन्त्र में गण का महत्त्व मुखिया से अधिक होता है। इसी लिये मालव-गण ने विदेशी शकों के पराजय से शान्ति

और सम्पन्नता के साथ कृत (=सत्य) युग का उद्घाटन करने वाले इस सम्वत् का नाम कृत-सम्वत् रखा। १३५ वर्ष बीतने पर जब मालव देश पर पुनः शकों का अधिकार हो गया और मालव वहां से पूर्व की ओर सरक गए, एवं कई सौ वर्षों तक संघर्ष करने के पश्चात् भी कृतयुग के आदर्श को पुनः स्थापित न कर सके तो उनके नाम पर यह सम्वत् मालव-सम्वत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ। चन्द्र-गुप्त विक्रमादित्य द्वितीय ने जब मालव-गण का उन्मूलन करके उनके राज्य को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया तो कई शतियों के पश्चात् मालवों की स्मृति धूमिल हो जाने के कारण इसके प्रवर्तक विक्रमादित्य का नाम पुनः इसके साथ जुड़ गया।

विक्रम-संवत् का आरम्भ उत्तरभारत में चैत्र शुक्ला प्रतिपदा और दक्षिण भारत में कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा को होता है। मास उत्तर में पूर्णिमान्त और दक्षिण में अमान्त होते हैं।

शक-सम्वत्—शक-सम्वत् जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अधिकतर विद्वानों के मतानुसार कुषाणवंशी राजा कनिष्क के द्वारा अपने शासन की काल-गणना के साथ आरम्भ हुआ। परवर्त्ती कुषाणवंशी शासकों और उनके अधीन शक-क्षत्रपों के द्वारा निरन्तर प्रयुक्त होने के कारण इसने एक सम्वत् का रूप धारण कर लिया। शक शासकों द्वारा इस सम्वत् का इतना अधिक प्रचार-प्रसार हुआ कि इसका नाम कनिष्क-सम्वत् या कुषाण-सम्वत् न होकर शक-सम्वत् ही प्रसिद्ध हो गया। प्राचीनतम अभिलेख जो इस सम्वत् को स्पष्टतया शकों के साथ जोड़ते हैं, बादामी के चालुक्य शासकों के हैं। छठी और सातवीं शती ई० के चालुक्य अभिलेखों में **शक-वर्ष** और **शकनृपराज्याभिषेकसंवत्सर** जैसे पदों का प्रयोग हुआ है। ये वे शक-शासक हैं जो ३०० वर्ष पूर्व उत्तरपश्चिमी भारत में शासन करते थे और जिनका चौथी शती ई० के अन्त में चन्द्रगुप्त-२ के द्वारा उन्मूलन किया गया। कनिष्क-२ के आरा-अभिलेख (संवत् ४२) से लेकर रुद्रसिंह-३ के चाँदी के सिक्कों पर मिले सं० ३१० के अभिलेख तक शक-क्षत्रपों के लगभग दो दर्जन अभिलेखों पर जो वर्ष अंकित हैं, वे निश्चय ही इस तथाकथित शक-सम्वत् के वर्ष ही हैं।

शक-सम्वत् की स्थापना किसी शक शासक के द्वारा न होने के पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं—(१) जैसा कि उनकी क्षत्रप उपाधि से विदित होता है, शक मूलतः सामन्त थे और इसीलिये उन्हें अपने अधिपतियों की कालगणना का ही प्रयोग करना पड़ता होगा। (२) इस सम्वत् के प्रथम ४० वर्षों में पश्चिमी भारत के शकों का कोई ऐसा लेख नहीं मिला है, जिसमें इस सम्वत् का प्रयोग हुआ हो। प्राचीनतम लेख प्रायः कनिष्क, वासिष्क, हुविष्क आदि कुषाण शासकों के मिले हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि शक क्षत्रप कुषाण-

वंशी शासकों के सामन्त थे। पश्चिमी शक-शासकों में प्राचीनतम नाम नाहपान (११६-१२४ ई०), चष्टन (१३० ई०) और रुद्रदामा (१३०-१५० ई०) हैं। रुद्रदामा को सम्भवतः पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी। नाहपान और चष्टन भी किसी सीमा तक स्वतन्त्र थे। परन्तु इससे पूर्व के पश्चिमी शक-शासकों के न तो सिक्के मिले हैं और न ही लेख। इससे स्पष्ट है कि वे कुषाणों के अधीन थे। अतः किसी नए सम्वत् की स्थापना तो दूर रही, वे अपने सिक्के भी जारी नहीं कर सकते थे। रुद्रदामा के उत्तराधिकारी सं० ३८८ तक इस संवत् का प्रयोग करते रहे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कुषाण शासक कनिष्क द्वारा स्थापित काल-गणना किस प्रकार शक-सम्वत् के नाम से प्रसिद्ध हुई। यहां यह भी स्मरणीय है कि कुषाण नाम भारतीय साहित्य में अज्ञात है। इसके विपरीत शक शब्द का प्रयोग न केवल शकों के लिये अपितु विदेशियों के लिये भी सामान्य रूप से प्रयुक्त होता रहा है। कुषाण तो वैसे भी शक क्षत्रपों के माध्यम से शासन करते थे। अतः कुषाणों के लिये शक, और उनके द्वरा जारी किये गए सम्वत् के लिये शक-सम्वत् की भ्रान्ति होना स्वाभाविक ही है।

शक-सम्वत् के प्रचार-प्रसार में उन जैनों का विशेष सहयोग रहा जिनका शकों के अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत गुजरात-काठियावाड़ प्रदेश विशेष गढ था। जैसाकि कालकाचार्य-कथा से स्पष्ट है, जैन लोग शकों को धर्म-रक्षक मानते थे। ये जैन लोग पश्चिमी शक-शासकों के प्रशासन में उच्च पदों पर नियुक्त थे। सिंह-सूरि ने अपने ग्रन्थ **लोक-विभाग** में काञ्ची के राजा सिंहवर्मा के शासन-वर्ष २२ के साथ शक-सम्वत् ३८० भी दिया है। चौथी शताब्दी के अन्त में जब पश्चिमी भारत में शक शासन समाप्त हो गया तो अनेक जैन विद्वान् दक्षिण के राजाओं के दरबारों में ज्योतिषी और प्रबन्धकों के पदों पर नियुक्त हो गए। वहां भी उन्होंने शक-सम्वत् के प्रचार-प्रसार में सहयोग दिया। शक-सम्वत् के प्रचार में एक अन्य रोचक तथ्य यह है कि उज्जयिनी के प्रसिद्ध मग ब्राह्मण ज्योतिषी वराहमिहिर ने अपनी **पञ्चसिद्धान्तिका** में शक-सम्वत् का प्रयोग किया है। इससे इस सम्वत् को लोकप्रिय बनाने में ज्योतिषियों की भूमिका का पता चलता है। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि उज्जयिनी प्राचीन भारत के ज्योतिर्विद्या के मुख्य केन्द्रों में से एक था (विशेषतः शक और गुप्त शासकों के संरक्षण में) और विक्रम तथा शक सम्वत् के प्रचार-प्रसार में इसकी विशेष भूमिका रही है। गुप्त सम्राट् अपने सिक्कों और लेखों पर तथा प्रशासनिक कार्यों में गुप्त संवत् का प्रयोग करते थे, किन्तु उन्होंने अपने अधीन उज्जयिनी प्रान्त में शासन करने वाले औलिकर वंश के राजाओं को विक्रम-सम्वत् का प्रयोग करने की अनुमति दे रखी थी। फ़ारस से आकर भारत में बसे मग ब्राह्मणों में भी शक-सम्वत् अधिक लोकप्रिय था और उन्होंने इसके प्रचार-प्रसार में बहुत सहयोग दिया।

दक्षिण भारत के चालुक्यवंशी राजाओं का इस सम्वत् को लोकप्रिय बनाने में बहुत सहयोग रहा। उन्होंने इस , को पूर्व की ओर उत्तरप्रदेश, बिहार और बंगाल तक ही प्रचलित नहीं किया अपितु हिन्दचीनी और हिन्दुनेशिया तक पहुँचा दिया। सेनों ने, जो कि मूलत: कन्नड़भाषी क्षेत्र के निवासी थे, इस सम्वत् का १२वीं शती ईस्वी में बंगाल में बहुत प्रचार किया। उत्तरप्रदेश और बिहार से यह नेपाल में भी प्रचलित हो गया, परन्तु ३१९ ई० में चन्द्रगुप्त प्रथम द्वारा स्थापित गुप्त-सम्वत्, जिसका प्रचार-प्रसार सभी गुप्तवंशी सम्राटों ने किया, मध्य और उत्तर-पूर्वी भारत में बहुत बाधक बना।

नर्वदा नदी से दक्षिण की ओर स्थित क्षेत्र में जहां यह संवत् अधिक लोकप्रिय है, चैत्रशुक्ला प्रतिपदा से प्रारम्भ होता है, और मास अमान्त हैं। दक्षिण भारत में जहां सौर मासों का प्रचलन है, वर्ष मेष-संक्रान्ति से प्रारम्भ होता है।

गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त-१ द्वारा प्रवर्तित गुप्त-सम्वत् का प्रयोग करते थे। गुप्तकाल में भी मालव में मालव-सम्वत् का प्रचलन रहा। गुप्तों के पतन के साथ ही गुप्त सम्वत् का प्रचलन भी बन्द हो गया। हां वलभी के शासकों द्वारा यह इसके बाद भी कुछ समय तक वलभी-संवत् के नाम से प्रयोग किया जाता रहा। इसके अतिरिक्त सम्राट् हर्ष द्वारा प्रवर्तित हर्ष-सम्वत्, नेपाल का नेवार संवत्, कलचुरी या चेदि-संवत्, बंगाल का लक्ष्मणसेन-सम्वत् आदि ऐसे अनेक सम्वत् हैं जिनका प्रयोग सीमित समय के लिये सीमित क्षेत्रों में उपलब्ध होता है।